

भारतीय साहित्य के निर्माता

उपेन्द्रनाथ अश्क

राजेन्द्र टोकी

उपेन्द्रनाथ अश्क

भारतीय साहित्य के निर्माता

उपेन्द्रनाथ अश्क

राजेन्द्र टोकी



साहित्य अकादेमी

Upendra Nath Ashk : A monograph in Hindi by Rajendra Toki on the modern Hindi writer. Sahitya Akademi, New Delhi (2004). Rs. 25.

प्रथम संस्करण : 2004

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स.,
डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता 700 053
सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बंगलोर 560 002

चेन्नई कार्यालय
मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304)
अन्ना सलई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 81-260-2041-5

मूल्य : पच्चीस रुपये

शब्द संयोजक एवं मुद्रक : नागरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

अनुक्रम

युग-परिवेश : पृष्ठभूमि

उपेन्द्रनाथ अश्क का जीवन काल (1910-1996) लगभग पूरी बीसवीं सदी का काल है। स्वतंत्रता-पूर्व, स्वतंत्रता और स्वतंत्रता के बाद के भारत में हुए बदलाव, विकास और मूल्यों के ह्रास आदि का यह युग अपने पूरे विस्तार में अश्क जी के जीवनकाल से जुड़ता है। अतः कहना न होगा कि उनके साहित्य के साथ एक अत्यंत लंबा वैविध्यपूर्ण उथल-पुथल से भरा गतिशील युग जुड़ा हुआ है।

इस युग के आरंभिक हिस्से पर उन्नीसवीं सदी की हलचल का असर अभी शेष था। ब्रिटिश साम्राज्यवादी औपनिवेशिक सत्ता की जकड़बंदी बनी हुई थी, लेकिन सदियों से दासताग्रस्त भारतीय जनमानस के भीतर राष्ट्रीय चेतना जागृत होने लगी थी। सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर पर राजा राम मोहन राय, दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद जैसे लोगों ने भारतीय जनता को प्रभावित तो किया ही था, महाराष्ट्र में पंडित रमाबाई और ज्योतिबा फुले जैसे समाज सुधारकों ने सामाजिक परिवर्तन की आवाज़ भी बुलंद करनी शुरू कर दी थी। परिणामतः हर क्षेत्र में एक नई चेतना का विकास हो रहा था। स्वतंत्रता की तीव्र भावना और संघर्ष की प्रखरता, तिलक तथा गाँधी जैसे सत्य और अहिंसा का आधार लेकर आगे बढ़ने वाले देशभक्तों के नेतृत्व में और अधिक मुखर हो रही थी। सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर पर राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद जैसे लोग सक्रिय थे। परिणामतः हर क्षेत्र में एक नई चेतना का विकास हो रहा था। स्वतंत्रता आंदोलन दिन-प्रतिदिन ज़ोर पकड़ता जा रहा था। प्रत्येक वर्ग और स्तर के लोग गाँधी-नेहरू के असहयोग आंदोलन से जुड़ रहे थे। पुनर्जागरण का यह काल राष्ट्रीय आंदोलन के साथ-साथ नई वैज्ञानिक दृष्टि के विकास का भी काल था। यही काल अश्क जी के जीवन के प्रारंभ, बाल्यावस्था और यौवन का भी है। उन्होंने ऐसे वातावरण में आँखें खोली जब चारों तरफ़ नई सोच और चेतना के साथ-साथ जीवन के वृहत्तर मूल्यों के प्रति एक गहरी आस्था थी। स्वतंत्रता और उसके बाद के भारत को लेकर रंगीन सपने थे। युग की इस चेतना को अश्क जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

"यह ज़माना था, जब महात्मा गाँधी के आह्वान पर छात्र स्कूलों से बाहर आ गए थे, क्लर्कों ही ने नहीं अफ़सरों तक ने नौकरियाँ छोड़ दी थीं। वकीलों ने वकालत छोड़ दी थी। लोगों ने ख़िताब वापिस कर दिए थे। अपने क़ीमती रेशमी कपड़े आग की भेंट कर मोटे-झोटे कपड़े पहन लिए थे। वह त्याग और बलिदान, ऊँचे मूल्यों और आदर्शों

का ज़माना था। लोगों ने अपने अंदर के पशु को दबा दिया था और इंसानियत के तार में बँध गए थे। उस ज़माने में शहर के तमाम गुंडे अपनी तमाम बुरी आदतों को छोड़कर पारसा बन गए थे और शहीदी भाव से आज़ादी के गाने गाते हुए स्वराज्य मंदिरों (जेलों) को बसाने चल दिए थे।" (*साक्षात्कार और विचार*–3, पृ. 18-19)

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद धीरे-धीरे आदर्श का यह पर्दा हटता चला गया। चीन और पाकिस्तान के विरुद्ध हुए युद्धों ने इस देश को जहाँ एक ओर जाग्रत किया, विकास पथ पर अग्रसर करके आत्म-निर्भर होने का हौसला दिया, वहीं नेताओं ने वोट की राजनीति को हथियार बनाकर आम आदमी का जीवन कठिन से कठिनतर कर दिया। मोहभंग की प्रक्रिया तीव्र से तीव्रतर होती चली गई। अश्क जी ने अपने जीवन भर में देश का जो विकास देखा, उसका बहुत विस्तार से उन्होंने एक साक्षात्कार में वर्णन किया :

"....देश ने प्रकटतः अभूतपूर्व प्रगति की है। पब्लिक सेक्टर हो या प्राइवेट, बड़े-बड़े कारख़ाने लगे हैं। बाँध बने हैं। नहरें निकली हैं। सड़कों और रेलों का जाल बिछ गया है। गैस, तेल, लोहा और न जाने कितनी-कितनी तरह का खनिज पदार्थ धरती से निकलने लगा है। आम लोगों के इस्तेमाल ही की नहीं, सेना के काम की भी अस्सी प्रतिशत चीज़ें देश में बनने लगी हैं। परमाणु शक्ति पर हमारे वैज्ञानिकों ने अधिकार प्राप्त कर लिया है। हमारे उपग्रह धरती के गिर्द चक्कर लगा रहे हैं। अनाज के सिलसिले में हम आत्मनिर्भर हो गए हैं। कहाँ तो हम अनाज के लिए अमेरिका पर निर्भर थे और कहाँ हम उसे निर्यात करने योग्य हो गए हैं। बिजली, टेलीफ़ोन-व्यवस्था और दूरदर्शन की सुविधा देश के दूर-दराज़ गाँवों तक में उपलब्ध हो रही है और न जाने आम और ख़ास लोगों की ज़रूरत की कितनी-कितनी चीज़ें देश में तैयार होने लगी हैं। हाल ही में कंप्यूटर भी देश में आ गए हैं और हमारा देश 21 वीं सदी में क़दम रखने को तत्पर है।" (*साक्षात्कार और विचार*–3, पृ. 18-19)

देश के इस विकास का जायज़ा लेते समय अश्क जी इसके वर्तमान वीभत्स स्वरूप से भी आँख मिलाते हैं और अपने आक्रोश को यूँ व्यक्त करते हैं, "आज़ादी मिलने के बाद दिखाने के लिए चाहे भूमि-सुधार हुए हों अथवा उद्योग-धंधों में सुधार, लेकिन तत्संबंधी कोई भी क़ानून पूरी तरह लागू नहीं हुआ। खादी का धोती-कुर्ता और गाँधी टोपी पहनने के बावजूद वे (नेता) अंग्रेज़ी भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्रेमी रहे। उन्हीं नेताओं की ग़लत नीतियों के कारण हम तन से आज़ाद होने के बावजूद मन से उत्तरोत्तर गुलाम होते चले गए। विदेशी चीज़ों के लिए हमारे मन में बेहद ललक रही। हम इंपोर्टेड चीज़ों पर मरते रहे और अब तो सत्ताधारियों ने यह ढोंग भी छोड़ दिया है। देश के दरवाज़े मल्टी नेशनल (बहु-राष्ट्रीय) कंपनियों के लिए चौपाट खोल दिए हैं और हमारे पूँजीपति मल्टी नेशनल कंपनियों के दलाल हो गए हैं और उन्होंने देश को औपनिवेशिक शक्तियों का ग़ुलाम बना दिया है। उपभोक्तावादी विदेशी संस्कृति चरम पर पहुँच रही है और ग़रीब जनता दूरदर्शन के विज्ञापनों के कारण फ़िज़ूल और बेज़रूरत

की चीज़ों पर अपनी गाढ़े पसीने की कमाई लुटा रही है और इस अंधे उपभोक्तावाद के चलते भ्रष्टाचार उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया है। हमारे साहित्य और संस्कृति और नैतिक मूल्यों का भयंकर विघटन हुआ है। भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, सांप्रदायिकता, जातिवाद बढ़े हैं। भ्रष्टाचार तो ऊपर से नीचे तक फैलता चला गया है और यह 'वे ऑफ़ लाइफ़' हो गया है। अंधविश्वास, अंधश्रद्धा, धर्म का कठमुल्लापन बढ़ा है। कहूँ कि सत्ताधारियों ने उसे अंग्रेज़ महाप्रभुओं की 'बाँटो और राज करो' की नीति के अनुसार अपने हितों के लिए और बढ़ाया-फैलाया है। समाज और राष्ट्र को प्रगति के रास्ते पर ले जाने के बदले व्यवस्था उसे अवनति के रास्ते पर ले जा रही है। सरकार समाजवाद के नाम पर जिस चीज़ का राष्ट्रीयकरण करती है, वहाँ शैथिल्य, बदनीयती, बददयानती और भ्रष्टाचार फैल जाता है और चीज़ों की क़ीमतें तत्काल बढ़ जाती हैं। सरकार तमाम योजनाओं पर जो अरबों रुपये ख़र्च करती है, उसका आधे से ज़्यादा भाग भ्रष्ट अफ़सरों और ठेकेदार और राजनेताओं द्वारा पोषित असामाजिक तत्त्वों की जेब में पहुँच जाता है। जवाबदेही की व्यवस्था के अभाव में किसी से बाज़पुरस नहीं होती। राजनेता देश के सेवक नहीं, कैरियरिस्ट और अपने चुनाव-क्षेत्रों के दलाल बन गए हैं। देश क़र्ज़ में डूबा जा रहा है। देश का अरबों रुपया बाहर जा रहा है। देशद्रोही बड़े-बड़े लोग, जिनमें नेता भी शामिल हैं, विदेशी बैंकों में ख़ाते खोले हुए हैं और हमारे देश का धन विदेशों की उन्नति का साधन बन रहा है। बे-उसूल, बददयानत, लफ़्फ़ाज़, भ्रष्टाचारी, क़ातिल, डाकू, तस्कर, घूसख़ोर, चाटुकार, समय-साधक, दनदनाते घूम रहे हैं और हम किसी सुनहरे भविष्य की ओर नहीं, घोर अँधेरे भविष्य की ओर बढ़ रहे हैं।" (*साक्षात्कार और विचार*–3, पृ. 21-22)

इसी सामाजिक, राजनैतिक परिवेश के साथ-साथ साहित्यिक परिवेश का भी साक्षात्कार अश्क जी ने किया। अश्क जी के साहित्य का प्रारंभ छायावाद के दौर में हुआ। उनके साहित्य में प्रगतिवादी लहर ने प्राण फूँके। उस समय उर्दू हिन्दी के सभी प्रमुख साहित्यकारों से अश्क जी का संपर्क रहा। प्रेमचंद से लेकर इस सदी के अंतिम चरण तक के सभी साहित्यिक आंदोलनों के अश्क जी साक्षी ही नहीं रहे, उनमें से अनेक में शरीक भी रहे और अपनी बेबाक टिप्पणियों के लिए बदनाम भी रहे। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता, नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समानांतर कहानी आदि कितने ही आंदोलन हिन्दी के साहित्यिक परिवेश में उभरे और डूब गए। अश्क इन सभी आंदोलनों से परे रह कर अपना सृजन कार्य करते रहे और बेबाक टिप्पणियाँ करते रहे। यदि किसी स्कूल से स्वयं को वाबस्ता करने की बात आई भी तो अश्क ने स्वयं को प्रेमचंद स्कूल का साहित्यकार कहलाना पसंद किया। यह बात अश्क साहित्य को समझने का अच्छा आधार प्रदान करता है।

अश्क जैसे साहित्यकार को पूर्णतया समझने के लिए इस व्यापक राष्ट्रीय और साहित्यिक परिवेश को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। उन्हें और उनकी रचनाओं को सही

परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उनके उस निजी परिवेश को भी समझना होगा, जिसमें वे साँस लेते थे और जो उनकी रचनाओं में भी वैसे ही साँस लेता दिखाई पड़ता है।

अश्क जी का जन्म जालंधर में हुआ था और अपने जीवन के प्रारंभिक 21 वर्ष उन्होंने वहीं काटे। अपने जीवन के इन प्रारंभिक वर्षों में उन्होंने जो कटु अनुभव पाए, उनका गहरा असर उनके लेखन पर पड़ा। अश्क जी का पारिवारिक वातावरण जहाँ दम घोटने वाला था, वहाँ उनके इर्द-गिर्द का सामाजिक वातावरण भी वैसा ही था, जिसका प्रभाव उन्होंने स्वीकार किया है। निम्न-मध्यवर्ग का यह पारिवेशिक प्रभाव अश्क के उपन्यासों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। इस संदर्भ में स्वयं अश्क का कथन महत्त्वपूर्ण है, "लिखने की ओर मेरे प्रवृत्त होने का कारण मेरा दुर्बल स्वास्थ्य, अति भावप्रवणता और घर का अत्यंत आतंक-पूर्ण और कलुषित वातावरण ही था।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व*, पृ. 232)

अपने इसी दमघोंटू वातावरण से मुक्ति पाने के लिए और अपनी प्रतिभा का समुचित विकास करने के लिए अश्क जी ने जालंधर छोड़ा और लाहौर चले आए। लाहौर में वे लगभग आठ वर्ष (1931-1939) तक रहे। लाहौर का जीवन वहाँ के गली-मुहल्ले, वहाँ का साहित्यिक समाज ज्यों का ज्यों उनके उपन्यासों में उतर आया है। लाहौर के उस समय के परिवेश को जानने-समझने के लिए अश्क का *एक नन्हीं किन्दील, बाँधो न नाव इस ठाँव* तथा *गर्म राख* उपन्यास एक दस्तावेज़ की हैसियत रखते हैं और केवल कलात्मक ही नहीं, बल्कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। लाहौर के परिवेश का प्रभाव अश्क के जीवन और रचनाओं का अभिन्न अंग है।

लाहौर में बने मित्रों और परिचित सहयोगियों के दबाव और प्रभावस्वरूप 1939 में अश्क जी ने लाहौर छोड़ दिया (भले ही इस बीच वे थोड़ी देर प्रीतनगर भी रहे और बाद में इस पर एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास भी लिखा) और दिल्ली में रेडियो की नौकरी कर ली। दिल्ली का साहित्यिक-वातावरण भी अश्क जी की कई रचनाओं में स्पष्ट रूप से वर्णित हुआ है। *मंटो मेरा दुश्मन* और *चेहरे : अनेक* आत्मचरित माला के कुछ खंडों में दिल्ली का साहित्यिक परिवेश स्पष्टतः उभरा है।

1944 में दिल्ली की नौकरी छोड़कर अश्क जी मुंबई के फ़िल्म जगत में चले गए, जहाँ के वातावरण का *फ़िल्मी जीवन की झाँकियाँ* के दोनों भागों में स्पष्ट अंकन हुआ है। 1948 में अंततः स्थायी रूप से अश्क जी इलाहाबाद में आ बसे और जीवन के अंत तक वहीं रहे। अश्क की कई कविताओं और रचनाओं का आधार इलाहाबाद ही है। इस तरह अश्क जी के व्यक्तित्व को निर्मित करने में उन शहरों की बड़ी भूमिका रही जिनमें वे रहे। एक तरीक़े से अश्क जी का जीवन शहर से शहर तक का सफ़र है। पंजाब के एक मझोले, लेकिन महत्त्वपूर्ण शहर जालंधर से शुरू होकर यह सफ़र तीन महानगरों—लाहौर, दिल्ली और मुंबई—से होता हुआ उत्तर प्रदेश के एक मझोले लेकिन महत्त्वपूर्ण शहर इलाहाबाद में संपन्न होता है, जिसकी प्रकृति बहुत हद तक जालंधर से मेल खाती है।

हैरत नहीं कि अपनी 86 वर्षीय ज़िन्दगी का सबसे बड़ा हिस्सा अश्क जी ने इन्हीं दो समान प्रकृति वाले शहरों में गुज़ारा। इसमें संदेह नहीं कि जैसा व्यापक पारिवेशिक रूप जालंधर और लाहौर का अश्क की रचनाओं में देखने को मिलता है, वैसा मुंबई और इलाहाबाद का नहीं। लेकिन ऐसा भी नहीं कि मुंबई और इलाहाबाद का रूप-स्वरूप उनकी रचनाओं में उभरकर न आया हो। इस संदर्भ में स्वयं अश्क जी ने आर.के. शौनक के एक प्रश्न के उत्तर में *गिरती दीवारें : दृष्टि प्रति दृष्टि* में लिखा है, "मैंने यहाँ के (इलाहाबाद) जीवन पर कुछ कहानियाँ और नाटक लिखे हैं, लेकिन उपन्यास मैं नहीं लिख सका। मेरा यह सिद्धांत है कि जो अनुभव आज प्राप्त किया जाता है, उस पर आज ही नहीं लिखना चाहिए। अनुभव और सृजन में एक दूरी होनी चाहिए—तभी लेखक उसे ठीक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखता है और तभी रचना बेहतर होती है। मेरे दिमाग़ में एक नहीं, कम-से-कम पाँच उपन्यास यहाँ के जीवन को लेकर हैं। लेकिन अभी मेरे पहले अनुभव ही समाप्त नहीं हुए।" (पृ. 20)

जालंधर और लाहौर के व्यापक पारिवेशिक चित्रण का कारण बताते हुए अश्क जी ने आगे कहा, "हर लेखक के लड़कपन की ज़िन्दगी के इंप्रेशन ज़्यादा गहरे होते हैं, कुछ लोग तो यह कहते हैं कि लेखक को उन्हीं पर लिखना चाहिए। उस उम्र में इंद्रियाँ बहुत सजग होती हैं और उन अनुभवों का एक-एक ब्यौरा उसे याद रहता है, जबकि बाद के अनुभवों के बारे में यह स्थिति नहीं रहती।" (वही, पृ. 20)

बाहरी जीवन-जगत और व्यापक राष्ट्रीय एवं साहित्यिक परिवेश की अभिव्यक्ति जहाँ अश्क के साक्षात्कारों, लेखों में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई है, वहीं निजी परिवेश का विशद चित्रण अश्क जी के वृहद्तम उपन्यास और अन्य रचनाओं में देखा जा सकता है। अश्क हिन्दी के संभवतः उन एक-दो रचनाकारों में एक हैं जिनकी रचनाओं में परिवेश एक तत्त्व विशेष बनकर नहीं, बल्कि विषय-वस्तु तथा कथ्य का अभिन्न हिस्सा बनकर आया है। यही नहीं उनकी रचनाओं में ये परिवेश पात्रों की भाँति जीवंत है, साँस लेता है। इसी वजह से ये रचनाएँ समाजशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक धरातल पर एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ की हैसियत रखती हैं।

अतः संक्षेपतः कहा जा सकता है कि अश्क ने अपने कथा साहित्य में भारत के (विशेषतः पंजाब के) निम्न-मध्यवर्ग को यथार्थ रूप में उकेरने का प्रयत्न किया है। मगर कथेतर साहित्य में अपने परिवर्तनशील, भ्रष्ट समय को स्पष्ट रूप से वाणी दी है। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि अश्क के साहित्य में उनका परिवेश, जो भारतीय परिवेश से भिन्न नहीं है, बोलता है। यह उपलब्धि उसी लेखक की हो सकती है जो अपने समय और समाज को सजग दृष्टि से निरखता-परखता हो और अपने लोगों और परिवेश से घना लगाव रखता हो।

जीवन एवं व्यक्तित्व

(क) जीवन-वृत्त

उपेन्द्रनाथ अश्क का जन्म भारद्वाज गोत्र के सारस्वत ब्राह्मण परिवार में 14 दिसंबर 1910 को हुआ। उनका वंशवृक्ष उनके पूर्व पुरुष सज्जन से शुरू होता है, जो शताब्दियों पहले पंजाब के बिलगा नामक गाँव में निवास करते थे। वैसे अश्क जी अकसर हँसी-हँसी में कहते थे और उन्होंने कहीं लिखा भी है कि उन्हें लगता है, उनके पुरखे सरस्वती नदी के किनारे बसे किसी जसरा गाँव से पंजाब गए होंगे। चूँकि इलाहाबाद में नदी के उस पार जसरा नामक गाँव है भी, सो अश्क जी अकसर इलाहाबाद के साहित्यकारों को छेड़ा करते थे कि वे यहीं से गए थे और फिर यहीं आ बसे हैं। अश्क जी के पुरखे जसरा गाँव से गए थे या नहीं—इस बात की कोई तसदीक नहीं हो पाई है, न इस बात की कि जसरा गाँव में वे क्या करते थे, लेकिन पंजाब में अश्क जी का घराना कई पीढ़ियों तक परंपरागत यजमानी-पुरोहिताई से अपनी आजीविका अर्जित करता रहा। इस परंपरा को सबसे पहले अश्क जी के परदादा ने तोड़ा। वे पटवारी हुए और गाँव से शहर में आ बसे और उन्होंने जालंधर के कल्लोवानी मुहल्ले में अपना मकान बनवा लिया। उनके चार बेटों में अश्क के दादा पं. मूलराज तीसरे थे। उन्होंने भी अपने पिता का ही पेशा अपनाया और कपूरथला रियासत में पटवारी हुए।

पं. मूलराज के एकमात्र पुत्र माधोराम अभी तीन वर्ष के ही थे कि प्लेग का भयंकर प्रकोप हुआ और इस महामारी के हाथों लगभग पूरा कुनवा साफ़ हो गया। केवल पं. मूलराज, उनकी माँ गंगादेई, एक पागल भाई और तीन वर्षीय माधोराम बच रहे। मातृविहीन बालक को उसकी दादी गंगादेई के पास जालंधर भेज दिया गया। वहाँ यह मातृविहीन बालक अपनी दैव-प्रदत्त मेधा के बावजूद बेलगाम और उद्दंड हो गया। गंगादेई जैसी पुराने और दक़ियानूसी विचारों की सख़्त और कर्कश ब्राह्मणी के हाथों वह बालक सुधर न सका। परिणामतः उसके पिता और दादी ने वही उपाय अपनाया, जो सदियों से हिन्दुस्तानी लोग अपनी बिगड़ी हुई संतान को रास्ते पर लाने के लिए अपनाते रहे हैं और विफल होते रहे हैं। आठवें दर्जे में ही पं. माधोराम की शादी होशियारपुर के रुद्रमणि मिश्र की पुत्री वासंती देवी से कर दी गई।

एकदम विपरीत स्वभाव वाले लेकिन अपनी-अपनी प्रकृति, मान्यताओं, विश्वासों और विचारों पर परम दृढ़ता से, कहा जाए कि लगभग हिंसात्मक तीव्रता से जमे रहने

वाले इस दंपत्ति ने अपने अँधेरे, सील-भरे, लगभग खँडहर मकान में आठ बच्चों को जन्म दिया। सबसे बड़ा लड़का और एक बेटी शैशव ही में जाते रहे लेकिन शेष छः बेटे शैशव के तमाम कष्ट-कठिनाइयों को पार कर एक ऐसे परिवेश में बड़े हुए जहाँ प्रतिकूल हवाओं की कोई कमी न थी। इन छः बेटों में उपेन्द्रनाथ (जिनका जन्म नाम इन्द्र नारायण था, जो पिता को पसंद न था) क्रम में दूसरे थे।

अश्क जी ने अपने माता-पिता के एकदम विपरीत स्वभावों के बारे में कहा है, "माता मेरी पतिव्रता, धर्मपरायण, दया-माया और सबर-संतोष वाली थी।" (*साक्षात्कार और विचार भाग* 2, पृ. 80) इसके विपरीत पिता, "अपने ज़माने में शहर के बड़े गुंडे थे। अखाड़िए थे। शराबी थे। जुआरी थे। और भी जितने आँचे-पाँचे थे, सब करते थे।" (*साक्षात्कार और विचार भाग* 1, पृ. 156) दोनों की नसीहतों में ज़मीन आसमान का अंतर स्वाभाविक है। बच्चों को दोनों की सुननी पड़ती थी। पिता का आतंक पूरे परिवार पर था। घर के अत्यंत आतंकपूर्ण और कलुषित वातावरण में अश्क जी की परवरिश हुई।

किशोर उपेन्द्रनाथ अपने स्टेशन मास्टर पिता के साथ एक रेलवे स्टेशन से दूसरे रेलवे स्टेशन पर घूमते रहते। पिता अपने बेटों के सिलसिले में बड़े महत्त्वाकांक्षी थे। सो सब बेटों को लाइन में खड़ा करके ऊँचा उठने और बड़ा आदमी बनने के उपदेश देते थे और अकसर इस सिलसिले में संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ी के विद्वानों की उक्तियाँ उद्धृत करते थे। अश्क जी की आरंभिक शिक्षा मूल रूप से ऐसे ही उद्धरणों से हुई और उन्होंने दर्जनों के हिसाब से ऐसी उक्तियाँ कंठस्थ कर रखी थीं और अक्सर उन्हें उद्धृत भी करते रहते थे। आरंभिक पढ़ाई के इस दौर में पिता की ज़ालिमाना मार-कुटाई का शिकार अश्क जी को अकसर बनना पड़ा। परिणामतः उनका स्वास्थ्य चौपट हो गया। यह क्रम तब तक जारी रहा जब तक वासंती देवी अपने इस दूसरे बेटे को जालंधर न ले आईं। नौ वर्ष की आयु में उनका नाम कल्लोवानी मुहल्ले के पास साईं दास एंग्लो संस्कृत स्कूल में तीसरी कक्षा में लिखा दिया गया।

ग्यारह वर्ष की आयु में उन्होंने पंजाबी में तुकबंदियाँ शुरू कर दीं। इसके अलावा आर्य भजन पुष्पांजलि की तर्ज पर भजन भी रचे। चौदह वर्ष की आयु में उन्हें दसूआ के एक पंजाबी कवि ने बाक़ायदा कविता में दीक्षित किया। इस अवसर पर अश्क जी ने जो कविता रची, 'की चाहीदा ए गुल बनान लग्गेयाँ' उसमें आदर्श शिष्य के गुण गिनाए गए थे। पंजाबी के इसी गुरु ने उपेन्द्रनाथ का तख़ल्लुस 'शनावर' (तैराक) रख दिया। शिष्यत्व ग्रहण करने के साल भर के भीतर अश्क जी ने होली के अवसर पर पंजाबी कवि-सम्मेलन में पुरस्कार स्वरूप चाँदी का पदक जीता। 1925-26 के आस-पास उन्होंने

पंजाबी का दामन छोड़ दिया और उर्दू में लिखना शुरू कर दिया। इसका कारण बताते हुए वे लिखते हैं, "पंजाबी भाषा का तब कोई भविष्य नहीं था। पंजाब के विभाजन के बीज अंग्रेज़ बहुत पहले बो चुके थे। पंजाबी भाषा अपने ही प्रांत में निर्वासित थी। पहली कक्षा से उर्दू पढ़ाई जाती थी, पाँचवीं से अंग्रेज़ी। पंजाबी की कोई पत्रिका न थी। हमारे शहर में पंजाबी कवि अधिकांशतः रंगरेज़, नेचेबंद, कोयला और सब्ज़ी-फ़रोश, मोटर ड्राइवर और क्लीनर थे। ज़्यादातर उनमें शहर के प्रसिद्ध गुंडे थे। सभ्य लोगों की भाषा उर्दू थी।" (*कहानी के इर्द-गिर्द,* पृ. 20) वैसे भी इन दिनों उर्दू का बोलबाला था। सो अश्क जी ने जालंधर ही के प्रसिद्ध शायर उस्ताद मुहम्मद अली 'आज़र' की शागिर्दी क़बूल की, जो 'दबिस्तान-ए-दाग़' से संबंध रखते थे। 1926 में उनकी पहली नज़्म 'तूफ़ाने अश्क' लाहौर के *दैनिक मिलाप* के रविवारीय संस्करण में प्रकाशित हुई। 1927 में अश्क जी ने हाई स्कूल की परीक्षा पास की, और इसी वर्ष उर्दू में लिखी उनकी पहली कहानी 'अहदे-गुज़िश्ता की याद' उर्फ़ 'याद है वो दिन' नाम से छपी। कल्पना से गढ़ी गई यह कहानी और इस जैसी बाद की कई कहानियाँ ऐसी ही थीं। 'आज़र' साहब की शागिर्दी कुछ समय तक ही चली। कारण, वे सुंदर लड़कों की ग़ज़लें शीघ्र ठीक कर देते थे और अश्क जी की उपेक्षा करते थे और इसी के चलते उन्होंने अश्क जी की कुछ ग़ज़लें खो भी दीं। तब अश्क जी ने फ़ैसला किया कि वे ग़ज़लों की जगह कहानियाँ लिखेंगे जिन्हें किसी को दिखाने की ज़रूरत ही नहीं। नतीजतन शायरी का दामन धीरे-धीरे उनसे छूटता गया और वे गद्य की ओर उन्मुख हो गए। यह बात अलग है कि जीवन के अंतिम हिस्से में वे पुनः शायरी करने लगे थे।

अश्क जी के कथाकार बनने में उनके बड़े भाई सुरेन्द्रनाथ शर्मा का भी बड़ा हाथ था, जो किराये पर नावल लाकर पढ़ा करते थे, जिन्हें बाद में अश्क जी भी पढ़ते और लिखने का प्रयत्न करते। शुरू-शुरू में उन्होंने एक जासूसी उपन्यास लिखने की भी कोशिश की।

डी.ए.वी. कॉलेज जालंधर में बी.ए. में प्रविष्ट होने के साथ ही अश्क जी के जीवन में व्यापकता आई। कॉलेज में प्रवेश के बाद जिस चीज़ ने अश्क जी के जीवन और उनके प्रारंभिक लेखन पर गहरा असर डाला, वह थी उनकी कुछ नए लोगों से मैत्री। इनमें पहले थे सहपाठी हसीब जिनसे अश्क जी की गहरी मैत्री रही और उर्दू शायरी का जिनके साथ उन्होंने अच्छा ख़ासा अध्ययन किया। दूसरे थे एक बंगाली अध्यापक डॉ. गंगाचरण कर। अंग्रेज़ी साहित्य का अध्ययन उन्हीं की प्रेरणा से अश्क जी ने किया। यही नहीं, डॉ. साहब की दो नसीहतें सदा अश्क जी के साथ रहीं। पहली सीधी-सरल शैली में लिखने का परामर्श और दूसरा कड़ी मेहनत का। बक़ौल अश्क "उर्दू हिन्दी बाक़ायदा न पढ़े होने के बावजूद यदि आज मैं दोनों भाषाओं में अच्छी रचनाएँ दे सका तो इसलिए कि मैंने डॉ. गंगाचरण कर की नसीहत 'वर्क हार्ड माई डीयर' को हमेशा याद रखा।" (*उस्ताद की जगह खाली है,* पृ. 21) कॉलेज की पढ़ाई के दौरान अश्क जी ने कई नाटकों

और मुशायरों में भाग लिया और अपने जीवन में आए इन दो व्यक्तियों का प्रभाव मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। 1930 में *नौ रत्न* नाम से उनका पहला कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ।

1931 में अश्क जी ने बी.ए. की परीक्षा पास की तथा इस डिग्री को हासिल करने से कुछ महीने पहले और बाद में उन्होंने अपने ही स्कूल में अध्यापन किया। 1931 में उन्होंने स्कूल मास्टरी छोड़ दी, अपने गृह नगर से विदा ली और उर्दू शायर मेलाराम वफ़ा के साथ लाहौर चले गए। यह सरगर्मियों और हलचलों से भरी सूबे की राजधानी ही थी, जहाँ युवा उपेन्द्रनाथ ने तमामतर मुश्किलों में ज़िन्दा रहने के सबसे बड़े और सबसे कड़े पाठ पढ़े। *भीष्म,* लाहौर के संपादन-विभाग में कथा-लेखक के रूप में उन्होंने काम शुरू किया। इन्हीं दिनों सुप्रसिद्ध कथाकार सुदर्शन से परिचय तथा उनकी पत्रिका *चंदन* में कुछ कहानियों का प्रकाशन भी हुआ। उन्हीं के प्रयास से लाला लाजपतराय के *वंदे मातरम्* में कथा-लेखक के रूप में अश्क की नियुक्ति हुई। इसी बीच उनका पत्र-व्यवहार प्रेमचंद से शुरू हुआ और उनकी प्रेरणा से ही उनका झुकाव हिन्दी की ओर हुआ। तव तक वे अपने मुहल्ले के एक शायर मित्र, कश्मीरी लाल अश्क की त्रासद मृत्यु की याद में अपना उपनाम 'शनावर' छोड़ कर 'अश्क' रख चुके थे। यहाँ यह उल्लेख करना बेजा न होगा कि भले ही अश्क जी अपने किसी अग्रज कथाकार के शिष्य या अनुयायी नहीं बने, लेकिन प्रेमचंद का असर उनकी ज़िन्दगी के सबसे निर्णायक प्रभावों में रहा। प्रेमचंद ने अश्क जी के हिन्दी हिज्जों की ग़लतियाँ सुधारीं, पढ़ने की सामग्री के बारे में मशवरा दिया, दुःख-सुख बाँटे, सांत्वना दी और अपने परवर्ती कथाकार को अपने सपनों और आकांक्षाओं में हिस्सेदार बनाया। स्वयं अश्क जी ने इस संदर्भ में *ज़्यादा अपनी कम परायी* में लिखा है, "उन्होंने 1933 में मेरे द्वितीय कहानी-संग्रह की भूमिका लिखी और बाद के चंद वर्षों में न केवल साहित्य संबंधी, वरन् जीवन संबंधी बड़े ही कीमती मशविरे मुझे दिए, जिन्होंने न केवल मुझे तब साहस बँधाया, बल्कि ज़िन्दगी की तमाम मुसीबतों से जूझने के योग्य बना दिया।" (पृ. 207)

1932 में अश्क जी का विवाह बस्ती ग़ज़ाँ जालंधर के एक मध्यवित्त ब्राह्मण परिवार की कन्या शीला देवी से हो गया। हालाँकि अश्क जी शुरू-शुरू में इस विवाह से संतुष्ट नहीं थे क्योंकि ज़्यादातर भारतीय शादियों की तरह यह विवाह परिवार द्वारा तय किया गया था और इसे पं. माधोराम ने नशे के दौरान उदारता की हस्ब-मामूल झोंक में वचनबद्ध होने पर अश्क जी पर थोप दिया था। शीला देवी प्राइमरी पास थीं। अनाकर्षक, अनगढ़ और अल्हड़। लेकिन जैसा कि अश्क जी ने बाद में लिखा अपनी प्रकट अनगढ़ पत्नी के भीतर उन्हें कुछ ऐसे विरल गुणों का प्रमाण मिला कि वे धीरे-धीरे शीला देवी की ओर खिंचते चले गए। उन्होंने फैसला किया कि दैनिक समाचार-पत्रों की कमरतोड़ मेहनत, रचनात्मक अभिव्यक्ति के प्रयासों और बड़े भाई को लाहौर में ज़माने की जद्दोज़ेहद के

बीच वे अपनी पत्नी को आगे पढ़ाएँगे, सभ्य और सुसंस्कृत बनाएँगे और यों अपनी अर्धशिक्षित पत्नी को प्रशिक्षित कर अपने स्तर के अनुरूप ले आएँगे।

अगले दो वर्ष अश्क जी ने अपनी सभी वृत्तियाँ इन सभी उद्देश्यों को पूरा करने में लगाए रखीं। इस बीच वे 1933 की गर्मियों में एक वैद्य कविराज हरनाम दास के आमंत्रण पर तीन महीने के लिए शिमला भी गए, जहाँ वे कविराज हरनाम दास के लिए छद्म लेखन करते रहे। उन्होंने नवजात शिशुओं के लालन-पालन पर एक हिदायतनामा लिखा जो कविराज हरनाम दास के नाम से प्रकाशित हुआ। कविराज के संपर्क में आने के बाद पहली बार अश्क जी को शालीनता के नीचे छिपी मक़्क़ारी, धूर्तता और स्वार्थपरता का परिचय मिला और इन सारे अनुभवों ने धीरे-धीरे उन्हें जीवन की पेचीदगियों और लोगों के टुच्चेपन तथा रियाकारियों के प्रति सचेत करने का काम किया।

1933 में ही अश्क जी का दूसरा कहानी-संग्रह *औरत की फ़ितरत* प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका प्रेमचंद ने लिखी। इससे पहले प्रेमचंद अश्क जी की एक कहानी 'तलाश-ए-जावेदा' स्वयं उर्दू से हिन्दी में करके 'अनंत खोज' के शीर्षक से अपने हिन्दी साप्ताहिक पत्र *जागरण* में छाप चुके थे।

शिमला से लाहौर आने पर अश्क जी ने *वंदे मातरम्* की 12-12, 14-14 घंटे ड्यूटी वाली सहसंपादकी छोड़ दी और दैनिक *वीर भारत* में रात की शिफ्ट में काम करने लगे। इसे भी छोड़कर उन्होंने बतौर संपादक एक नए साप्ताहिक *भूचाल* का काम सँभाला, लेकिन उसके मालिक प्रकाशक में तकरार हो जाने पर जल्द ही उससे भी छुट्टी पा ली।

लाहौर के अपने अनुभवों के बारे में अश्क जी ने श्री आर.के. शौनक को लिखा था, "1934 और 36 के दरम्यान मेरी ज़िन्दगी में बहुत कुछ ऐसा घटा कि जिसने न केवल अपने जीवन के बारे में मेरा दृष्टिकोण बदल दिया बल्कि मुझे वह यथार्थवादी दृष्टि भी दी, जिससे मैंने दुनिया को एक नई नज़र से देखना सीखा और पहले से एकदम अलग किस्म की रचनाएँ कीं। .....संघर्ष तो मेरा कटुतम था, लेकिन मुझे वह खलता नहीं था। मैं उसे पार्ट ऑफ़ द गेम समझता था और उस तमाम दलदल, कीचड़ और ग़लाज़त में रहते हुए, मैं न उसके बारे में लिखता था, न उसके बारे में सोचता था। उस ज़माने में मैं कल्पना से अनोखे और अनजाने प्यार की रूमानी कहानियाँ लिखता था : आदर्श नारियों, प्रेमियों, नेताओं, कलाकारों को अपनी कहानियों के पात्र बनाता था। मेरी उन कहानियों को (और मेरी फ़ाइल में कम-से-कम 40 ऐसी अप्रकाशित कहानियाँ पड़ी हैं) वास्तविक जीवन का ज़रा भी संस्पर्श नहीं मिला था।" (*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रति दृष्टि*, पृ. 118) उन्होंने अन्यत्र अपने जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है :

"जब मैं लाहौर में क़ानून पढ़ता था और मेरी कहानियाँ और कविताएँ हर सप्ताह छपती थीं और मैं अपने आपको कुछ समझता भी था, एक दिन अचानक मुझे मालूम हुआ कि मेरे ससुर पागल हो गए हैं, उनके भाई ने उन्हें लाहौर के पागलख़ाने में भरती करा दिया है, मेरी सास जेठ से लड़ कर लाहौर चली आई है और उसने एक सेठ के यहाँ सात रुपये महीने पर महाराजिन के तौर पर रोटी पकाने और वर्तन आदि मलने का काम कर लिया है ताकि लाहौर में रह कर पति की देखभाल कर सके। मैं हतप्रभ और स्तब्ध रह गया। मुझे यह किसी तरह स्वीकार न हुआ कि मेरी सास महाराजिन की नौकरी करें। पर जब मैं उस सेठ के यहाँ गया, उन्होंने मेरी बड़ी आव-भगत की। मैंने देखा कि मेरी सास वहाँ खुश है। सोचा तो मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि उस सूरत में, जब वह लड़की के घर का अन्न नहीं छू सकती, मुझे इस कर्मठता की प्रशंसा करनी चाहिए कि जेठ के यहाँ अपमान सहने के बदले वह स्वाभिमान से जीवन-यापन कर रही है। लेकिन दुर्भाग्य कि उस सेठ की लड़की से मेरे मुहल्ले ही के मेरे एक समकक्ष की सगाई हो गई, जो उसी वर्ष डिप्टी मजिस्ट्रेट हुआ था और जो डिप्टी मजिस्ट्रेट होने के बाद मुहल्ले वालों को हेय समझने लगा था और जिसने मेरा हल्का-सा अपमान भी कर दिया था। मेरे अहं को दोहरी ठेस लगी। मेरे लिए वह स्थिति एकदम असह्य हो उठी। बार-बार मुझे ख़याल आने लगा कि जब उसकी शादी होगी तो मेरी पत्नी की स्थिति क्या होगी? महाराजिन की लड़की ही की न! और मेरी? — महाराजिन के दामाद की। मैं चाहता था, मेरी सास वहाँ से नौकरी छोड़ दे, पर वह ऐसा करने को तैयार न थी। तब मैंने तय किया कि डिप्टी-कलेक्टरी के कम्पीटीशन में तो मैं नहीं बैठ सकता (मेरी उम्र ज़्यादा हो गई थी) पर मैं सब जजी के कम्पीटीशन में तो बैठ सकता हूँ। मेरी पत्नी उस घर में जाए तो जज की पत्नी की हैसियत से जाए, केवल रसोई देखनेवाली महाराजिन की लड़की की हैसियत से नहीं।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व*, पृ. 241)

लिहाज़ा अश्क जी ने सब-जज बनने का निश्चय किया और क़ानून की पढ़ाई शुरू कर दी, लेकिन अंतिम परीक्षा में बैठने से पहले उन्हें पता चला कि उनकी पत्नी को तपेदिक हो गया है। शीला देवी को सैनेटोरियम में भर्ती करा दिया गया। अश्क जी इस दौरान प्राइवेट ट्यूशनें करते रहे, एक साप्ताहिक अख़बार के लिए कहानियाँ लिखते रहे, हफ़्ते में दो बार तपती धूप में साइकिल पर आठ मील चल कर पत्नी को सैनेटोरियम में देखने जाते रहे और साथ ही इम्तहानों की तैयारी करते रहे।

क़ानून की परीक्षा अश्क जी ने विशेष योग्यता से पास की, लेकिन सब-जज की परीक्षा में वे नहीं बैठे, क्योंकि शीला देवी, जिनके लिए अश्क जी सब-जज बनना चाहते थे 11 दिसंबर 1936 को दो वर्ष के बेटे उमेश को पीछे छोड़ कर उनका साथ छोड़ गईं।

अश्क जी को अपना सारा श्रम नितांत व्यर्थ (एब्सर्ड) लगा। मौत के क्रूर प्रहार ने उनका सारा संघर्ष, सारी योजनाएँ, नितांत एब्सर्ड बना दी थीं। उन्हें यह ज़िन्दगी जीने लायक़

नहीं लगी। सो अश्क जी ने आत्महत्या की असफल कोशिश की। तब उनके मन में जीवन को लेकर कुछ बुनियादी प्रश्न उठे जिनसे वे अपनी पत्नी की मृत्यु के छः-आठ महीने तक जूझते रहे। अपनी परेशानी का उनके पास कोई इलाज न था। बार-बार कई प्रश्न उनके दिमाग़ में उठते, लेकिन उनका कोई जवाब न मिलता।

फिर ग़ालिबन मई, 1937 की एक तपती हुई दोपहर में जब वे अपनी छोटी-सी मयानी में फ़र्श पर चटाई बिछाए, दीवार से पीठ लगाए, उन्हीं प्रश्नों से जूझ रहे थे, अचानक (अश्क जी दावे से ऐसा कहते थे) उनका दिमाग़ रोशन हो उठा। पहले बुनियादी प्रश्न के ही नहीं उन इल्हामी क्षणों में अपने सारे प्रश्नों के ऐसे उत्तर उन्हें मिल गए, जो उन्हें पूरी तरह संतुष्ट भी कर गए।

पत्नी के निधन ने बीती हुई ज़िन्दगी के साथ, अश्क जी के रिश्तों को पहले ही छिन्न-भिन्न कर डाला था, नियति ने एक ही झटके से ज़िन्दगी की वह स्लेट जैसे एकदम साफ़ कर दी थी। मानो उनका 'उस जीवन से कभी कोई ताल्लुक़ ही नहीं रहा था।'

अश्क जी ने लिखा है, "मैंने मौत को देखा और नियति का स्पर्श भी पाया और अपने उस घनघोर संघर्ष की नितांत व्यर्थता मेरे सामने मूर्तरूप से उजागर हो गई, जो मैंने सब-जज बनने के प्रयास में किया था। मैंने दुख, तकलीफ़, ग़रीबी, नेताओं की द्वैधवृत्ति, शोषण और अपने परिवेश की विवशता को जाना और मुझे यह नई दृष्टि मिल गई, जो पहले मेरे पास नहीं थी।" (*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रति दृष्टि*, पृ. 120)

अश्क जी ने क़ानून की किताबें बेच दीं। कहीं नौकरी न करने और जीवन को साहित्य के लिए समर्पित करते हुए एक वृहद उपन्यास लिखने का फैसला कर लिया। अगले दो वर्षों तक अश्क जी फ्री-लांस लेखन के बल पर आजीविका चलाते रहे। उन्होंने अपना पहला नाटक *जय-पराजय* 1938 में प्रकाशित किया और अपनी कुछ प्रसिद्ध कहानियाँ और एकांकी लिखे।

तभी उन्हें लगा कि कितने भी कटु और तल्ख़ क्यों न हों, पिछले कुछ वर्षों के अनुभव और ज़िन्दगी के बुनियादी प्रश्नों के सही संतोषप्रद उत्तर उनकी ज़िन्दगी का सर्वाधिक बेशकीमत सरमाया हैं और इन्हीं अनुभूतियों को उन्हें आने वाली पीढ़ियों के लिए लिखित रूप में छोड़ जाना चाहिए।

अश्क जी ने उन दिनों को याद करते हुए बताया था कि उर्दू के कुछ कहानीकारों ने, जो उन्हीं दिनों इंग्लैण्ड से लौटे थे, *अंगारे* के नाम से एक कहानी-संग्रह प्रकाशित किया। संग्रह के नाम पर कहानीकारों का यह गुट 'अंगारे-गुट' के नाम से मशहूर हुआ। ये कहानियाँ नग्न यथार्थ की कहानियाँ थीं और ऐसा खुलापन पहले कभी नहीं देखा गया था। वे सभी लेखक समय के प्रवाह में लिखना-विखना भूल गए, पर अश्क जी को यथार्थवादी दृष्टि दे गए।

लेकिन भावुकता से यह विदाई आंशिक ही थी, जैसा कि अश्क जी के पहले-पहले प्रकाशित होनेवाले हिन्दी उपन्यास–*सितारों के खेल* (1940) में नज़र आया। यह उपन्यास एक प्राचीन हिन्दू गाथा के पुनर्मूल्यांकन के उद्देश्य से बुना गया था। अश्क जी उस गाथा से संबद्ध बुनियादी नैतिक विचार पर सवाल उठाना चाहते थे। परंपरागत नैतिक आचार-व्यवहार की तर्कहीनता से पीछा छुड़ाने की इस कोशिश में और उस नैतिक विचार से युक्त प्राचीन गाथा की विश्वसनीयता परखने के उत्साह में अश्क जी ने एक ऐसा कथानक चुना, जो उस पुरानी हिन्दू गाथा जितना ही अद्‌भुत था। उपन्यास में आधा रास्ता तय कर चुकने के बाद उन्होंने मुड़ कर दूसरे यथार्थवादी छोर की ओर चलने की कोशिश की। यह उपन्यास अंततः एक दारुण कहानी बन कर रह गया, जो मूल कथा जितना ही अविश्वसनीय था, फ़र्क़ बस इतना था कि वह और भी ज़्यादा अनास्थापरक और अवसादपूर्ण था। यह बात दीगर है कि यह उपन्यास आज भी लोकप्रिय है।

इन दो वर्षों में अश्क जी ने अपनी मशहूर कहानी 'डाची' और अपनी बीवी की बीमारी और मौत से जुड़ी हुई थोड़ी-सी भावुकता लिए हुए कहानियाँ लिखीं, जिनमें 'नन्हा', 'ये मर्द' और 'संगदिल' आदि आज भी मशहूर हैं।

लेकिन चूँकि उनके दिमाग़ में एक महाकाव्यात्मक उपन्यास को लिखने की बात आ चुकी थी, जिसकी घटनाएँ भी ज़ेहन में सुस्पष्ट थीं, मगर कैसे उन घटनाओं को एक शृंखला में बाँधा जाए, इसका पैटर्न उनके दिमाग़ में नहीं था। इसलिए उन्होंने कई विदेशी उपन्यास पढ़े। तो भी उपन्यास की बुनावट उनके हाथ में नहीं आई। जब आ गई तो उन्होंने अभ्यास के लिए कुछ ऐसी कहानियाँ लिखीं, जो न केवल हक़ीक़तों के अंदर छिपी हक़ीक़तों को उजागर करती थीं, बल्कि जिनकी उठान भी वैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास जैसी थी, जिसे वे लिखना चाहते थे। इनमें 'अंकुर', 'मनुष्य यह', 'पिंजरा', 'गोखरू' और 'चट्टान' प्रसिद्ध हैं। 'चट्टान' उन्होंने आधी ही लिखी थी कि उनका उपन्यास चल पड़ा और उन्होंने वैसी कहानियाँ लिखनी बंद कर दीं।

इन दो वर्षों में, यानी अपनी पत्नी के निधन के बाद, अश्क जी ने अपना पहला काव्य-संग्रह *प्रात प्रदीप* पूरा किया। कविताएँ तो उन्होंने अपनी पत्नी की बीमारी और मौत के वक़्त ही लिखनी शुरू कर दी थीं, वे छपने भी लगी थीं, लेकिन वह संग्रह जो अश्क जी का पहला काव्य संग्रह है, 1938 में छपा। दुर्भाग्य से इन्हीं भावुकतापूर्ण, दुःख-भरी और दिल को कचोटने वाली कविताओं के कारण अश्क जी एक स्कैण्डल में भी उलझ गए। एक लड़की थी, वह एक हिन्दी स्कूल में पढ़ाती थी। उसने *प्रात प्रदीप* की कविताएँ पढ़ीं और मंच से सुनी और वह उनके यहाँ आने लगी। जब अश्क जी के बरजने के बावजूद मामला बहुत आगे बढ़ गया तो एक दिन क्रोध और तनाव की चरम

सीमा तक पहुँच कर उन्होंने उस युवती से ताल्लुक़ तोड़ लिया। वह लड़की निराशा में शादी करके अफ्रीका चली गई।

इस कटु प्रसंग पर, और वह प्रसंग जैसे समाप्त हुआ, उस पर, अश्क जी अपना प्रसिद्ध उपन्यास *गर्म राख* लिख चुके हैं। यहाँ इतना ही कि इस स्कैण्डल के चलते लाहौर के साहित्यिक समाज में अश्क जी के दोस्तों ने उन्हें बहुत परेशान करना शुरू किया। तब पहले अश्क जी ने महात्मा गाँधी के आश्रम वर्धा जाने की सोची। अश्क जी के पास काका कालेलकर का निमंत्रण भी था। उनके एक प्रसिद्ध कवि-मित्र प्रोफ़ेसर मोहन सिंह ने सुना तो राय दी कि वे वर्धा न जाएँ, बल्कि अमृतसर के निकट सरदार गुरबख्श सिंह द्वारा बसाई गई आदर्श कालोनी प्रीतनगर जाएँ और उन्होंने अश्क जी को चिट्ठी दे दी। 1939 में अश्क जी प्रीतनगर चले गए और वहाँ उन्होंने अपने वृहद उपन्यास *गिरती दीवारें* को लिखना शुरू कर दिया।

अश्क जी को अभी और भी दुःख, तकलीफ़ तथा कटु अनुभवों से गुज़रना था। प्रीतनगर में उनके साथ एक और प्रवाद खड़ा हो गया। अश्क जी ने महसूस किया कि अकेले विधुर के रूप में जीवन असंभव होगा और फ़रवरी 1941 में उन्होंने माया देवी से विवाह कर लिया।

अश्क जी ने लिखा है, "यह विवाह एक नियोजित दुर्घटना सिद्ध हुआ। श्रीमती ऐसी आईं कि उन्होंने डेढ़ महीने में मुझे मज़बूर कर दिया कि मैं नौकरी छोड़ूँ और भाग जाऊँ। सो मैंने नौकरी छोड़ दी और बंगलौर भाग जाने की योजना बना ली, लेकिन तभी कृष्णचंद्र ने मुझे दिल्ली बुला लिया और मैं रेडियो में नाटककार के तौर पर मुलाज़िम हो गया।"

बहुत देर तक अश्क जी इस राज़ से पर्दा नहीं उठा सके कि उन्होंने क्यों दूसरी पत्नी को छोड़ दिया था। उन्होंने इस सिलसिले में स्वयं कुछ न कह कर अपना उपन्यास *निमिषा* लिखा।

माया देवी से विवाह के पहले ही अश्क जी कौशल्या जी से मिल चुके थे और इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि वे ही उनकी पत्नी होने के योग्य हैं। लेकिन अश्क जी की इच्छा थी कि चुपचाप शादी कर ली जाए, जिस बात पर कौशल्या जी तैयार नहीं हुईं। कौशल्या जी के संभ्रांत खत्री रिश्तेदार इस ग़रीब, अव्यवस्थित, मनमौज़ी, आवारा, विद्रोही कहानीकार के साथ उनके संबंधों के ख़िलाफ़ थे। कौशल्या जी, माया देवी के साथ अश्क जी के विवाह में शामिल भी हुईं थीं और उन्होंने तय किया था कि अब वे कभी नहीं मिलेंगे, न ख़तो-किताबत ही करेंगे। लेकिन अपनी दूसरी पत्नी से संबंध-विच्छेद के छः महीने के भीतर ही अश्क जी ने सितम्बर 1941 में कौशल्या जी से दिल्ली के अपने निवास पर विवाह कर लिया। तब से 1996 तक 55 वर्ष अश्क जी और कौशल्या जी सुख-पूर्वक साथ रहते, संघर्ष करते और मुसीबतें झेलते रहे।

दूसरी पत्नी से अलग होने के साथ-साथ अश्क जी ने प्रीतनगर वाली नौकरी भी छोड़ दी थी। अश्क जी ने बाद में प्रीतनगर के वातावरण को अपने उपन्यास *बड़ी-बड़ी आँखें* (1955) में चित्रित किया।

नौकरशाही में शामिल होना कई बार अति-क्रियाशील रचनात्मक प्रतिभाओं को निष्क्रिय बनाने का काम करता है। लेकिन अश्क जी के सिलसिले में ऑल इंडिया रेडियो की नौकरी एक ऐसा साहित्यिक अखाड़ा साबित हुई जहाँ उन्हें अपनी मेधा और कौशल.. .दोनों को सान पर चढ़ाने का पर्याप्त अवसर मिला।

जब अश्क जी ऑल इंडिया रेडियो में हिन्दी सलाहकार होकर दिल्ली पहुँचे तो कृष्णचंदर, मंटो और नून-मीम-राशिद वहाँ पहले से मौजूद थे। उर्दू के प्रसिद्ध व्यंग्यकार ए.एस. बुखारी पतरस कंट्रोलर जेनरल थे। बाद में राजेन्द्र सिंह बेदी, राजा मेंहदी अली ख़ाँ, अख़्तर उल ईमान और अहमद नदीम कासमी भी कुछ अर्से के लिए वहाँ चले आए। देवेन्द्र सत्यार्थी घूमते-फिरते आते ही रहते थे। इसके अलावा जैनेन्द्र दिल्ली ही में थे। हिन्दी सलाहकार की हैसियत से काम करते हुए अश्क जी ने दिल्ली के अधिकांश हिन्दी लेखकों को तो रेडियो कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए बुलाया ही, साथ ही लाहौर, इलाहाबाद, मेरठ, मथुरा और कलकत्ता से भी हिन्दी साहित्यकारों को आमंत्रित किया जिनमें अज्ञेय, नगेन्द्र, डॉ. रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, अंचल, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, इलाचंद्र जोशी और हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जैसे रचनाकार थे।

इतने सारे प्रतिष्ठित रचनाकारों के जमावड़े ने स्वाभाविक रूप से रचनात्मकता और स्पर्धा को प्रेरित किया। अश्क जी के पहले के लिखे सभी नाटक रेडियो पर प्रस्तुत हुए साथ ही उन्होंने निरंतर कहानियाँ, एकांकी और नाटक लिखे। *अंजो दीदी, अलग अलग रास्ते* और *भँवर* जैसे नाटक, *मैमूना, तौलिये, चुंबक* और *चरवाहे* में शामिल एकांकी, और 'चट्टान', 'ब्लाउज', सपने और 'खटक' जैसी कहानियाँ इसी दौर की रचनाएँ हैं।

लेकिन शायद रेडियो के ज़माने की सबसे यादगार घटनाएँ उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार मंटो के साथ अश्क जी की स्पर्धा, नोक-झोंक और प्रतिद्वंद्विता-भरी मैत्री से संबंधित हैं। अश्क जी और मंटो के संबंधों के बारे में कृष्ण चंदर ने लिखा है, "मंटो और अश्क, दोनों ड्रामे लिखते थे और मुझे उन दोनों के बीच में संतुलन रखना पड़ता था। दोनों अच्छे लेखक, अपने अहं पर कायम। फल यह हुआ कि उन दिनों बहुत अच्छे रेडियो नाटक लिखे गए। इन नाटकों से उर्दू-साहित्य में आधुनिक नाटकों की बेल बढ़ी और उर्दू-साहित्य के इस अभाव की पूर्ति हुई। बल्कि उसके बाद तो उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपनी बेहतरीन कोशिशें नाटक के लिए लगा दीं। वह बड़े मज़े का ज़माना था। हम तीनों में साहित्यिक वाद-विवाद होते, नोक-झोंक होती, कहानियाँ लिखी जातीं, नाटक लिखे जाते, लेख एक दूसरे को सुनाए जाते। अश्क और मंटो की नोक-झोंक ख़ूब होती

थी और अकसर दुनिया के हर विषय पर हो जाती थी और ऐसी-ऐसी साहित्यिक बारीकियाँ निकलती थीं कि दिन भर जी लगा रहता था।" (*मंटो : मेरा दुश्मन*, पृ.271-72)

मंटो से अश्क जी का बाद में भी वास्ता पड़ता रहा जब वे दिल्ली को विदा कह कर मंटो ही के बुलावे पर मुंबई गए। यूँ अश्क जी दिल्ली नहीं छोड़ना चाहते थे, लेकिन इस बीच कुछ ऐसी घटनाएँ हुई जिनकी वजह से अश्क जी को अपने जीवन का बँधा-बँधाया ढर्रा एक बार फिर बदलने को विवश होना पड़ा।

बात यह है कि अश्क जी तो रेडियो में नौकरी करते थे, लेकिन कौशल्या जी, जो विवाह से पहले हेड मिस्ट्रेस थीं, घर में बैठी बोर होती थीं। उन्होंने बिना अश्क जी से पूछे भारतीय सेना के महिला विंग वौकई– की नौकरी कर ली। सेना में स्त्रियों की नौकरी को अच्छा नहीं समझा जाता था और लोग समझते थे कि अंग्रेज़ों ने यह विंग अपने मनोरंजन के लिए स्थापित किया है। अश्क जी ने कौशल्या जी को समझाया, पर वो नहीं मानीं। कौशल्या जी का कहना था स्त्री दृढ़ चरित्र की है तो कोई उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। लेकिन अश्क जी ज़िन्दगी को अपनी पत्नी से बेहतर जानते थे। नई-नई शादी थी। पत्नी बराबर की थी। अश्क जी चुप रहे। लेकिन उन्होंने अपने मित्र कवि फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ से कह कर कौशल्या जी को उनके दफ़्तर में मुलाज़िम करवा दिया। कौशल्या जी ने उर्दू टाइप सीख लिया और फ़ैज़ के दफ़्तर में दो-चार दफ़्तरी चिट्ठियों के अलावा अश्क जी के नाटक टाइप करती रहीं। फिर अश्क जी ने स्वयं सेना के मुखपत्र *फ़ौजी अख़बार* में नौकरी कर ली।

अश्क जी का परिवेश बदल गया। उनके घर में लेखकों की गोष्ठियाँ होने के बदले फ़ौजी अफ़सरों की पार्टियाँ होने लगीं। अश्क जी अपनी पत्नी से कहा करते थे कि तुमने मुझ ग़रीब लेखक से क्यों शादी कर ली, तुम्हें तो किसी आई.सी.एस. या फ़ौजी अफ़सर से शादी करनी चाहिए थी जो कम-से-कम एक हज़ार रुपया वेतन पाता हो। कौशल्या जी कहतीं, "आप भी इतना कमा लेंगे।"

दिसंबर 1944 की एक शाम अश्क जी को पार्टी में उदास देखकर उनकी तथा कौशल्या जी की साँझी युवा मित्र ऐलिस के कहने पर अश्क जी ने उस नौकरी को छोड़ने का फ़ैसला कर लिया।

सैनिक समाचार के अपने अनुभवों पर ही अश्क जी ने अपनी मशहूर कहानी 'कैप्टन रशीद' लिखी।

इस बीच मंटो रेडियो की मुलाज़मत छोड़ कर मुंबई चले गए थे। वहाँ वे प्रसिद्ध फ़िल्म कम्पनी 'फ़िल्मिस्तान' से संबद्ध हो गए थे। मुंबई में जम जाने के बाद मंटो बार-बार अश्क जी को वहाँ आने और फ़िल्मी दुनिया से जुड़ने के लिए आमंत्रित करते थे। पहले अश्क जी ने इनकार कर दिया था क्योंकि लाहौर के दिनों में उन्हें प्रेमचंद ने अपने फ़िल्मी अनुभवों के बारे में मुंबई से जो पत्र लिखा था, उसमें फ़िल्मी दुनिया की

ऐसी छवि चित्रित की थी जो अश्क जी को विकर्षित करती थी। *सैनिक समाचार* की नौकरी को छोड़ने का फ़ैसला करने के बाद मुंबई जाने में अश्क जी को कोई एतराज़ न रहा।

इसी बीच फ़ैज़ की बदली हो गई। उनकी जगह जो फ़ौजी अफ़सर आया, उसने कोई बदतमीज़ी की। कौशल्या जी बेहद गुस्से में सैण्डहर्स्ट, देहरादून गईं। कम्पीटीशन में बैठीं और जूनियर कमाण्डेण्ट बन कर वापिस आ गईं। चूँकि अश्क जी दिसंबर में मुंबई जा रहे थे, इसलिए उन्होंने अपना तबादला नेवी में करवा लिया और प्रशिक्षण के लिए अश्क जी के साथ मुंबई जाने का फ़ैसला कर लिया।

अश्क जी को फ़िल्मिस्तान से अच्छा वेतन मिलने लगा था, कौशल्या जी गर्भवती भी थीं, इसलिए उन्होंने सेना की नौकरी छोड़ दी और अश्क जी, जिसे अंग्रेज़ी में कहते हैं 'राइट एंड लेफ़्ट' पैसा पैदा करने लगे। अगस्त 1945 में अश्क जी के यहाँ उनके दूसरे बेटे नीलाभ का जन्म हुआ।

अश्क जी ने मुंबई-प्रवास में कहानियाँ, पटकथाएँ, संवाद और गीत लिखे, तीन फ़िल्मों में अभिनय भी किया, लेकिन उन्हें कभी यह नहीं महसूस हुआ कि वे उस चमक-दमक वाली दुनिया में खप सकते हैं।

मुंबई प्रवास के दौरान 'इंडियन पीपुल्स थिएट्रिकल एसोसिएशन' (इप्टा) और 'प्रगतिशील लेखक संघ' के साथ अश्क जी के संबंधों ने उन्हें फ़िल्मों की नक़ली दुनिया से निकल कर वास्तविकता के संसार में विचरण करने की रचनात्मक सुविधा प्रदान की। 1946 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के महासचिव सज्जाद ज़हीर ने अश्क जी से हिन्दू-मुस्लिम फ़सादों पर एक नाटक लिखने का आग्रह किया। अश्क जी ने अपना एकांकी *तूफ़ान से पहले* लिखा। यह एकांकी कम्यूनिस्ट पार्टी के पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित हुआ, लेकिन 'इप्टा' ने उसे खेलने से इनकार कर दिया। कारण, जैसा कि अश्क जी बताते थे, कि इप्टा के भीतर एक गुट ने हमेशा संस्था को फ़िल्मी जगत में प्रवेश करने का मंच बना रखा था। लिहाज़ा अश्क जी ने अपने निर्देशन में नाटक तैयार किया। तब 'इप्टा' के प्रमुख अभिनेताओं ने जो काम हाथ में ले रखा था, उसे छोड़ दिया और बलराज साहनी को मुख्य भूमिका देकर *तूफ़ान से पहले* प्रस्तुत करने की योजना बनाई। उन्होंने इसका पहला मंचन अंधेरी में किया। उनका इरादा इस नाटक को हर मुहल्ले में खेलने का था। लेकिन इससे पहले कि ऐसा हो पाता, ब्रिटिश सरकार ने नाटक पर पाबंदी लगा दी।

अश्क जी यह मानते थे कि मुंबई की फ़िल्मी ज़िन्दगी के दमघोंटू वातावरण से 'प्रगतिशील लेखक संघ' के साहित्यिक माहौल में उन्हें बड़ा त्राण मिलता था। उन दिनों वहाँ रणदिवे पीरियड वाली संकीर्णता नहीं थी। अश्क जी स्वीकार करते हैं कि मुंबई में वे नियमित रूप से अपने मित्रों, कृष्णचंदर, अब्बास, महेन्द्र, मजरूह, साहिर वगैरह के साथ प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकों में शामिल होते थे। ये सारे-के-सारे लोग

'प्रगतिशील' कहलाना पसंद करते थे। बाद में अश्क जी उत्तर प्रदेश 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्वागत-समिति के अध्यक्ष भी बने।

अश्क जी ने फ़िल्मिस्तान वालों से कह दिया था कि वे तीसरे साल नौकरी नहीं करेंगे क्योंकि उनकी सेहत ख़राब हो रही है। उनके दूसरे साल की अवधि दिसंबर 1946 में ख़त्म होती थी। अश्क दंपति ने तय किया था कि वे लाहौर में जाकर अपना निज का प्रकाशन शुरू करेंगे और अपनी किताबें स्वयं छापेंगे। कौशल्या जी मोटा-मोटा सामान लेकर लाहौर चली गई थीं। लेकिन अपने नाटक की रिहर्सल के बाद सैण्डहर्स्ट रोड से अपने निवास स्थान वापिस आने में अश्क जी बेमौसम वर्षा से भीग गए। उन्हें हल्का बुख़ार आने लगा। अश्क जी को लगा उन्हें यक्ष्मा हो गया है। कौशल्या जी उन्हें फ़रवरी 1947 में पंचगनी ले गईं और उन्हें बेल एयर सैनेटोरियम में दाख़िल करवा दिया।

पंचगनी में अश्क जी डेढ़ वर्ष रहे। हालाँकि डॉक्टरों ने उठने-बैठने और बात करने पर पाबंदी लगा दी थी, मगर इसके बावजूद अश्क जी बराबर लिखते रहे। 1947 में देश विभाजित हो गया। अश्क जी ने इस त्रासदी पर अपनी प्रसिद्ध कहानी 'टेबललैण्ड' लिखी। इसके अलावा 'बच्चे', 'अस्त्र' और 'जब संतराम ने बेलना उठाया' जैसी कहानियाँ, खंड-काव्य 'बरगद की बेटी' और एकांकी 'कइसा साब कइसी आया' बीमारी के दौरान की रचनाएँ हैं।

1947 में अश्क जी का वृहद उपन्यास *गिरती दीवारें* हिन्दी में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास मूल रूप में उर्दू में लिखा गया था, लेकिन प्रकाशित पहले हिन्दी में हुआ। उपन्यास के प्रकाशित होते ही इसकी व्यापक स्तर पर चर्चा हुई। प्रेमचन्द के *गोदान* को छोड़कर हिन्दी का शायद ही कोई उपन्यास होगा, जिसके पक्ष-विपक्ष में इतना लिखा गया हो जितना *गिरती दीवारों* के।

1947 तक अश्क जी लाहौर, प्रीतनगर, दिल्ली और मुंबई में रहते हुए ज़्यादातर उर्दू के ही साहित्यिक हलकों में सक्रिय रहे थे। हिन्दी-क्षेत्र में उनकी उपस्थिति बाहरी इलाक़ों तक ही सीमित थी हालाँकि हिन्दी में उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं, उनका अच्छा स्वागत हुआ था, अनुकूल समीक्षाएँ प्रकाशित हुई थीं और हिन्दी साहित्यकारों से भेंट-मुलाकात और पत्र-व्यवहार लगातार जारी था।

तभी 1947 में उनकी कविता 'दीप जलेगा' इस टिप्पणी के साथ *हंस* में प्रकाशित हुई कि इस कविता के रचनाकार दूरस्थ पंचगनी के टी.बी. सैनेटोरियम में रोगग्रस्त हैं। कविता के साथ इस टिप्पणी के प्रकाशित होते ही सहसा हिन्दी रचनाकारों का ध्यान अश्क जी की ओर गया और उत्तर प्रदेश की पहली राष्ट्रीय सरकार ने उन्हें रोगमुक्त होने के लिए पाँच हज़ार रुपये का अनुदान दिया। अनुदान की आधी राशि तत्कालीन मुख्यमंत्री डॉ. संपूर्णानंद ने अश्क जी को वहीं पंचगनी भिजवा दी।

इस बीच फ़िल्मी दुनिया से कमाया सारा रुपया समाप्त हो चुका था। देश के विभाजन ने लाहौर जाकर प्रकाशन शुरू करने की सारी संभावनाओं को ख़त्म कर दिया

था। ऐसे में उत्तर प्रदेश सरकार की इस अयाचित सहायता ने अश्क जी के मनोबल को बढ़ाने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की। अश्क जी अभी बीमारी से पूरी तरह उबरे न थे, लेकिन उसी हालत में उन्होंने फ़ैसला किया कि वे अब जालंधर, दिल्ली अथवा किसी अन्य स्थान की बजाय इलाहाबाद जाकर रहेंगे। इलाहाबाद में हमेशा ही से साहित्यकारों का जमघट रहा है, खुद अश्क जी के कई मित्र वहाँ थे और पहले भी उन्हें इलाहाबाद आने के लिए आमंत्रित कर चुके थे। सबसे बड़ी बात यह थी, जैसा कि अश्क जी ने बाद में लिखा कि जहाँ से बिन माँगे यह सहायता मिली है, वहाँ से माँगने पर सहयोग क्यों न मिलेगा। यह सोच कर अश्क जी ने एक बार फिर अपना सामान बाँधा और इलाहाबाद की ओर चल पड़े।

इस बार का सफ़र उस ख़ानाबदोशी को खत्म कर देने वाला था जो 16 वर्ष पहले शुरू हुई थी, जब जीवन की रंगभूमि में पहला-पहला कदम रखनेवाले एक युवक ने यह तय करके कि उसे बड़ा आदमी बनना है, अपना घर छोड़ कर महानगर की राह ली थी। तब शायद उसे अंदाज़ा नहीं था कि भारत के तीन-तीन महानगरों में ज़ोर आज़माने के बाद अंततः उसे एक ऐसे नगर को स्थायी निवास के लिए चुनना पड़ेगा जो स्वभाव और प्रकृति में उसके अपने नगर जालंधर से बहुत भिन्न नहीं था।

हालाँकि अश्क जी सैनेटोरियम से बाहर आ गए थे, वे अब भी बिस्तर के क़ैदी थे और लगभग अगले दो साल तक यही स्थिति बनी रही।

1948 में उत्तर प्रदेश सरकार ने मशहूर उर्दू कथाकार ख़्वाजा अहमद अब्बास की एक कहानी 'सरदार जी' पर मुकदमा दायर कर दिया, जो *माया* (इलाहाबाद) में छपी थी। अपनी रोग-शैया से अश्क जी ने एक 'विरोध समिति' का गठन किया और अब्बास को लिखा कि हिन्दी-उर्दू के सभी लेखक उनके साथ हैं। अब्बास को वह अवसर याद है, जब वे इसी सिलसिले में इलाहाबाद आए थे :

"जब मैं इलाहाबाद पहुँच कर अश्क जी के यहाँ गया तो देखा कि गर्मी के बावजूद स्वेटर और मफ़लर लपेटे हैं। नुकीला नक्शा और भी नुकीला हो गया है, मगर आँखों में ज़िन्दगी की, शोख़ी की, शरारत की, वही पुरानी चमक है और ठहाकों की गूँज में यदि मुहल्ले भर में नहीं तो कमरे में तो भूचाल लाने की ताक़त अब भी शेष है।... .जितने दिन मैं इलाहाबाद में रहा (एक महीने से भी ज़्यादा) अश्क ज़्यादा वक़्त पलंग पर लेटा रहा। मगर यह बिस्तर मृत्यु-शैया नहीं था, रोग-शैया भी नहीं था, यह पलंग वह रण क्षेत्र था, जहाँ एक दुबला-पतला तन मौत से और मर्ज़ से हँस-हँस कर लोहा ले रहा था। उस पलंग पर लेटे-लेटे अश्क ने कहानियाँ लिखीं, मेरे मामले के बारे में मिनिस्ट्री को चिट्ठियाँ, प्रेस के लिए लेख और बयान लिखवाए, मुझे अपने प्रकाशन-गृह की योजना बताई—उस कमरे में, उस पलंग के गिर्द साहित्यिक गोष्ठियाँ हुईं, मुशायरे और कवि-सम्मेलन

हुए, छायावाद और मार्क्सवाद पर गर्मागर्म वाद-विवाद हुए और टी.बी. से छलनी फेफड़ों के बावजूद अश्क की आवाज़ उतनी ही करारी रही, उसकी आँखें ज़िन्दगी और ज़हानत और शरारत से चमकती रहीं और उसके ठहाके उसी तरह गूँजते रहे।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व*, पृ. 98-99)

अब्बास ने यह भी लिखा है कि अश्क जी को अनुदान की राशि दो सौ रुपया माहवार के हिसाब से मिलती थी। उत्तर प्रदेश सरकार ने अब्बास के ख़िलाफ दायर किया मुक़दमा तो वापिस ले लिया, साथ ही अश्क जी का अनुदान भी बंद कर दिया।

कौशल्या जी ने सरकार से ऋण लेकर एक प्रकाशन-गृह शुरू किया और अश्क जी के पूर्व-प्रकाशकों से उनकी किताबों को वापस लेने का एक लंबा संघर्ष शुरू हुआ। अंततः वे 'नीलाभ प्रकाशन' से (जिसका नाम शायद उन्होंने अपने बेटे के नाम पर रखा) अश्क जी की सभी रचनाएँ प्रकाशित करने में तो सफल हुईं ही, अन्य लेखकों की भी कृतियाँ उन्होंने प्रकाशित कीं।

1952 में अश्क जी ने अपना वृहद उपन्यास *गर्म राख* समाप्त किया जिस पर सभी हलकों से मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। लाहौर की साहित्यिक राजनीति का खुला और बेबाक चित्र होने के कारण और हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकारों की नैतिकता (या उसके अभाव) का कच्चा-चिट्ठा होने के कारण उपन्यास अनेक विवादों का निशाना बना—ख़ासतौर पर इसलिए कि पचास के दशक तक उनमें से अनेक साहित्यकार जीवित थे। मूल रूप से *गर्म राख* नौ हिस्सों में प्रस्तावित *गिरती दीवारें* का एक खंड होने वाला था, जो अब सात खंडों में लिखा जा रहा था। तो भी वह उपन्यास आत्मकथा की ही प्रामाणिकता से भरपूर है—उसी तरह जैसे अश्क जी का अगला उपन्यास—*बड़ी-बड़ी आँखें* (1955)। रेडियो पर प्रसारित होने के साथ-साथ *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* (दिल्ली) में, धारावाहिक प्रकाशित भी हुआ था। *बड़ी-बड़ी आँखें* अश्क जी के जीवन के उन तीन वर्षों पर आधारित है, जो उन्होंने प्रीतनगर में गुज़ारे। इसमें उन्होंने भारतीय बुद्धिजीवियों के 'आश्रमवादी' आदर्शों पर गहरा व्यंग्य किया। केन्द्र सरकार ने *बड़ी-बड़ी आँखें* को पुरस्कृत भी किया।

1953 से 55 के बीच अश्क जी और कौशल्या जी 'किताबों के बैग उठाए' लगभग पूरे देश में दौरा करते रहे ताकि अपनी किताबें बेच सकें और *नीलाभ प्रकाशन* को आर्थिक रूप से सुदृढ़ कर सकें।

संघर्ष के इसी दौर में अश्क जी ने दुकान-दुकान, कॉलेज-कॉलेज, शहर-शहर हाज़िरी दी और न सिर्फ़ पुस्तक-विक्रेताओं से आर्डर लिए, बल्कि काव्य-पाठ भी किया, अपने एकांकी नाटक *पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ* को साभिनय सुनाया और लेखकों तथा उत्सुक पाठकों से भेंट भी की।

सितंबर 1956 में अश्क जी सोवियत सरकार के आमंत्रण पर कालिदास जयंती समारोह में भाग लेने के लिए सोवियत संघ गए। उन्होंने काबुल, स्तालिनग्राद, ब्लीसी,

लेनिनग्राद, मास्को और कई अन्य जगहों की यात्रा की, सोवियत संघ के अनेक लेखकों और कलाकारों से भेंट की, जिनमें रूस के प्रसिद्ध उपन्यासकार इलिया एहरेनबुर्ग भी थे।

1956 में ही अश्क जी ने उस समय की श्रेष्ठ हिन्दी रचनाओं का एक वृहद संकलन *संकेत* के नाम से संपादित किया। ऐतिहासिक महत्त्व के इस संकलन में पुरानी और नई पीढ़ी के लेखकों की श्रेष्ठ रचनाएँ थी, साथ ही ऐसे अनेक नए और उदीयमान रचनाकारों को पहली बार प्रस्तुत किया गया था, जो बाद में बहुत प्रसिद्ध हुए।

इसी वर्ष उन्होंने उर्दू के विवादग्रस्त विद्रोही लेखक सआदत हसन मंटो के बारे में अपना लंबा संस्मरण—*मंटो मेरा दुश्मन*—प्रकाशित किया। इस पुस्तक में मंटो के बारे में कृष्णचंदर और देवेन्द्र सत्यार्थी के संस्मरण भी शामिल थे। यह संस्मरण उर्दू साहित्य के इतिहास की पुनर्रचना करने के लिए (जैसा कि वह उस समय की सर्वाधिक जीवंत और उर्वर प्रतिभाओं द्वारा जिया और रचा गया) महत्त्वपूर्ण साहित्यिक दस्तावेज़ है।

1960 में अश्क जी की पचासवीं वर्षगाँठ मनाई गई और इस अवसर पर तीस से अधिक मूर्धन्य हिन्दी-उर्दू लेखकों ने उन्हें शुभकामनाएँ दी, संस्मरण लिखे और उनके व्यक्तित्व का बेबाक मूल्यांकन किया। ये लेख कौशल्या जी ने संपादित किए और बड़े ही उचित शीर्षक से *अश्क : एक रंगीन व्यक्ति* में प्रकाशित किए। अश्क जी के मूल राज्य पंजाब की सरकार ने अश्क जी के गृह नगर जालंधर में उनका लोक-सम्मान समारोह भी आयोजित किया।

मई 1961 में अश्क जी 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' के वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता करने के लिए तिनसुकिया (असम) गए। इस संस्था की स्थापना महात्मा गाँधी ने वर्धा में की थी। अधिवेशन के बाद अश्क जी असम के अनेक स्थानों का दौरा करते रहे, लेकिन कालिम्पौंग पहुँच कर बीमार हो गए। इसी बीमारी के दौरान उन्होंने *गिरती दीवारें* का दूसरा खंड *शहर में घूमता आईना* पूरा किया।

अश्क जी ने अपना साहित्यिक जीवन उर्दू लेखक के रूप में शुरू किया था और उनके आरंभिक वर्ष ऐसे उर्दू लेखकों के बीच गुज़रे, जो अब प्रसिद्ध हो चुके हैं। हालाँकि अश्क जी मूल रूप से हिन्दी लेखक के रूप में ही जाने जाते हैं, लेकिन हमेशा से ऐसा प्रतीत होता रहा है कि उर्दू से उनके संपर्क-सूत्र कभी टूटे नहीं और उनकी रचनात्मकता उर्दू भाषा और उसकी बेहद समृद्ध परंपरा और हमेशा ताज़ा होने वाली जीवंतता से जीवनदायक ऊर्जा ग्रहण करती रही। 1962 में अश्क जी ने आधुनिक उर्दू साहित्य की चुनी हुई रचनाओं का एक वृहद संकलन—*संकेत : उर्दू*—संपादित और प्रकाशित किया। साथ ही उर्दू शायरी, नाटक, कहानियों, हास्य-व्यंग्य रचनाओं और संस्मरणों के छः छोटे संकलन प्रकाशित किए।

अगले दो वर्षों में वे आंध्र और केरल गए। 1963 में कसौली, 1965 में फिर कसौली जहाँ उन्होंने *एक नन्हीं किन्दील* के कुछ परिच्छेद लिखे। यहीं उन्हें दमे का पहला सख़्त दौरा पड़ा और उसके बाद उनका पहाड़ जाना हमेशा के लिए ख़त्म हो गया। वो

इस मूज़ी बीमारी से लगातार आक्रांत रहे। कभी बहुत ज़्यादा, कभी कम। लेकिन इसके बावजूद वे निरंतर लिखते रहे। जैसे यक्ष्मा के साथ उन्होंने जीना सीखा, ऐसे ही दमे के साथ भी जीना और लिखना सीख लिया था।

इलाहाबाद आने के बाद से ही अश्क जी ने अपने लिए यह ख्याति अर्जित की कि वे हिन्दी के सर्वाधिक विवादग्रस्त लेखकों में से एक हैं। कई लोगों ने यह आरोप भी लगाया कि वे खुद अपने बारे में विवाद खड़े करते रहे हैं और उन्हें हवा देते रहे हैं। भैरव प्रसाद गुप्त ने कहा भी है कि, "यह लोकप्रियता तथा विवाद-ग्रस्तता बहुत हद तक अश्क जी की स्वयं अर्जित है। मुझे तो ऐसा लगता है कि अश्क जी ने ऐसा करके अपने व्यक्तित्व के ऊपर एक खोल चढ़ा लिया है, जिसे भेद कर उन्हें कोई नहीं देख पाता और वे उस रक्षा-कवच के भीतर बैठे मज़े से ज़माने पर हँसते रहते हैं।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व* , पृ. 72-73)

भैरव प्रसाद गुप्त की यह टिप्पणी उन सभी विवादों की सफ़ाई नहीं पेश कर सकती जिनसे अश्क जी घिरे रहे, तो भी वह अश्क जी के लंबे आलोचनात्मक लेख—*हिन्दी कहानियाँ और फ़ैशन* के उद्देश्य और प्रभाव के बारे में एक कुंजी निश्चय ही उपलब्ध कराती है। अश्क जी ने यह लेख इलाहाबाद की साहित्यिक संस्था—'परिमल' की एक ऐतिहासिक गोष्ठी में पढ़ा था। *हिन्दी कहानियाँ और फ़ैशन* हिन्दी कहानी के तीन दशकों का बेबाक लेखा-जोखा है और इस लेख में अश्क जी ने सभी छद्म-प्रगतिशील प्रवृत्तियों की भर्त्सना की, नक़ल करने वालों पर चोट की और ऐसे लेखकों की खुली प्रशंसा की, जो अश्क जी की राय में सच्चे और प्रगतिशील कहानीकार थे। कुछ लेखक, जिनकी अश्क जी ने भरपूर प्रशंसा की, अश्क जी के घोषित विरोधियों के रूप में प्रसिद्ध थे। बाद में यह लेख अश्क जी द्वारा दिए गए लंबे इंटरव्यू के साथ इसी नाम से प्रकाशित हुआ और आज तक अनेक कारणों से एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ माना जाता है। लेख की व्यापक दृष्टि और फैलाव, उसकी अपारंपरिक समीक्षात्मक प्रणाली और अशास्त्रीय पद्धति, उसका कड़वा-मीठा-स्वर—ये सब अश्क जी के व्यक्तित्व और साथ-ही-साथ कहानी-कला और अपने युग के बारे में उनके नज़रिये की एक अद्भुत झाँकी उपलब्ध कराते हैं।

दिसंबर 1965 में अश्क जी को नाट्य-लेखन के प्रमुख रचनाकार के तौर पर संगीत नाटक अकादेमी ने अपने सर्वोच्च सम्मान से सम्मानित किया। वे हिन्दी-उर्दू के पहले नाटककार थे, जिन्हें यह सम्मान दिया गया।

1967 में नीलाभ प्रकाशन के संपादक-मंडल ने अश्क जी की पुस्तक *हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय* प्रकाशित की, जो संपादकीय टिप्पणी के अनुसार सुविचारित सुनियोजित लेखों, आलोचनाओं, परिचयात्मक टिप्पणियों, निजी मतों और आशंसाओं का संग्रह है। यह पुस्तक संपादकों के दावे की पुष्टि करती है कि अश्क जी के साहित्यिक जीवन की सबसे प्रमुख विशेषता यह रही है कि उन्होंने अपनी रचनात्मकता

को कभी कहानी-लेखन की परंपरागत प्रणालियों के घेरे में सीमित करके कुंठित नहीं होने दिया, बल्कि एक अनुभव-खंड के पूरा हो जाने के बाद वे हमेशा पूरे समर्पित भाव से आंतरिक और बाह्य अनुभवों के नए-नए क्षितिजों की ख़ोज में अग्रसर हुए। नए अनुभवों की यह ललक-भरी और समर्पित तलाश उन्हें हमेशा अपने समकालीनों से अलग करती रही। अपने कुछ समकालीनों के ठीक विपरीत, अश्क जी हमेशा नए-नए जोखिम और चुनौतियाँ उठाने को तैयार रहते थे और ऐसा करके वे नाना प्रकार के साहित्यिक विवादों के केन्द्र में बने रहते थे।

1968 में अश्क जी ने *नई कहानियाँ* के संपादक भीष्म साहनी के अनुरोध पर रचनात्मक लेखन, प्रचार-प्रसार, प्रकाशन और लेखक की नैतिक और सामाजिक प्रतिबद्धताओं के बारे में अपने विचार और अनुभव एक शृंखलाबद्ध लेख माला में उपलब्ध कराए जो बड़े उपयुक्त शीर्षक से उनकी पुस्तक *कुछ दूसरों के लिए* में संकलित हुए। 1969 में उन्होंने *गिरती दीवारें* का तीसरा खंड—*एक नन्हीं किन्दील* और उसके साथ ही अपने 25 श्रेष्ठ एकांकियों का संग्रह, जिसमें हर एकांकी से पहले अश्क जी ने उसकी रचना-प्रक्रिया और मंचन आदि पर एक टिप्पणी भी लिखी, प्रकाशित किए। इस एकांकी संग्रह की भूमिका, समकालीन भारतीय रंगमंच, रंग मंडलियों, राजकीय संरक्षण और नियंत्रण का एक विशद मूल्यांकन होने के नाते, इस विषय के किसी भी शोधार्थी के लिए एक मूल्यवान ऐतिहासिक दस्तावेज़ है, ख़ास तौर पर इसलिए कि उसे एक ऐसे व्यक्ति ने तैयार किया है, जो जीवन भर हर संभव रूप में मिसाल के लिए नाटककार, अभिनेता और निर्देशक के तौर पर नाटक और रंगमंच से जुड़ा रहा।

अपनी और अपने परिवार के अन्य सदस्यों की लंबी वीमारी, मुक़दमेवाज़ी और प्रकाशन में आए घाटे के कारण 1970 का साल उससे पहले के ढाई दशकों में से पहला साल था, जब अश्क जी की कोई नई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। अगले वर्ष एक बार फिर उन्होंने पुस्तकों का झोला उठाया और इसी वर्ष वे मैसूर के राज्यपाल श्री धर्मवीर के यहाँ उनके मेहमान के तौर पर भी रहे। 1971 में ही अश्क जी के साक्षात्कारों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ, जिनमें से दूधनाथ सिंह को दिया गया साक्षात्कार पीढ़ियों के अंतर को पार करती हुई एक उल्लेखनीय साहित्यिक मुठभेड़ है और से. रा. यात्री को दिया गया साक्षात्कार खुले सवालों और बेबाक जवाबों के कारण हिन्दी का एक अभूतपूर्व दस्तावेज़ है—ख़ासतौर पर इसलिए भी कि यह साक्षात्कार अश्क जी की निजी ज़िन्दगी के बारे में प्रभूत सामग्री उपलब्ध कराता है।

अश्क जी को अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से जो लोकप्रियता हासिल हुई है, उसी का एक और प्रमाण 1972 में मिला जब उन्हें सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

1973 में उन्हें डेलिगेशन के साथ मास्को जाना था। लेकिन उन्होंने कहा कि वे अपने वृहद उपन्यास का चौथा खंड लिख रहे हैं। वे इस वर्ष रूस की यात्रा नहीं कर सकते। वे 1974 में ही जा सकते हैं। सो मई 1974 में अश्क जी रूस गए।

अश्क जी के पुराने मित्र कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री स्टुअर्ट मेक्ग्रेगर को पता चला कि अश्क जी रूस आ रहे हैं तो उन्होंने अश्क जी को लिखा कि वे वहाँ का काम निपटा कर कैम्ब्रिज आएँ और भाषण दें। इस निमंत्रण-पत्र की एक कापी उन्होंने मास्को भिजवा दी। अश्क जी ने कैम्ब्रिज और लंदन यूनिवर्सिटी में आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य पर भाषण दिए। जब उनके पुराने मित्र जर्मन विद्वान पीटर ग्याफ़्के (यूत्रेख़्त और लाइडन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष) को अश्क जी के इंगलिस्तान में होने का पता चला तो न केवल उन्होंने अश्क जी को हॉलैंड आने का निनंत्रण दिया बल्कि उनके पारिवारिक मित्र बॉन विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. तिलकराज को भी पश्चिमी जर्मनी की तत्कालीन राजधानी बॉन में भाषण के लिए बुलाया। डॉ. ग्याफ़्के उनके निवास स्थान लंदन में आए और अपने साथ ले गए।

डॉ. ग्याफ़्के ने न केवल सात दिनों में कार से हालैंड के प्रमुख नगरों एमस्टरडैम, रॉटरडेम, लाइडेन, युत्रेख्त—आदि की सैर करवाई बल्कि अश्क जी की इच्छानुसार प्रसिद्ध चित्रकार रेम्ब्राँ और वान गॉग की प्रदर्शनियाँ भी दिखाईं। अश्क जी ने यूत्रोख्त और लाइडेन विश्वविद्यालय में भाषण भी दिए। डॉ. ग्याफ़्के उन्हें कार से बॉन में उनके जर्मन आतिथेय डॉ. तिलकराज के यहाँ ले गए। दूसरे ही दिन डॉ. ग्याफ़्के के प्रयत्नों से बॉन विश्वविद्यालय के अध्यापकों की गोष्ठी में जिनमें अंग्रेज़ी और संस्कृत के अध्यापक भी थे, अश्क जी को भाषण देने के लिए कहा गया। प्रो. ग्याफ़्के भी मौजूद थे।

वहाँ एक ऐसी बात हुई, जिसे अश्क जी कभी नहीं भूल सके। जब अश्क जी भाषण देने के लिए खड़े हुए और उन्होंने कहा कि मैं अब आपको आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य के बारे में कुछ बताऊँगा तो श्रोताओं में से एक युवती खड़ी हुई और उसने कहा—नहीं...नहीं...हमें हिन्दी कथा-साहित्य में कोई दिलचस्पी नहीं। सामने अलमारी में आपके वृहद उपन्यास के पाँच उपन्यास-खंड पड़े हैं और हम सुनते हैं कि अभी आप दो और लिखेंगे। आप कृपया हमें बताइए कि इतना वृहद उपन्यास लिखने की आपको कैसे प्रेरणा हुई। आपने इन उपन्यासों में क्या लिखा है? अगले उपन्यासों में आप क्या लिखने जा रहे हैं?

अश्क जी को उस युवती की बात सुन कर अपरंपार खुशी हुई। वे 1947 के बाद (जब *गिरती दीवारें* छपा) अपने देश के तूल-अर्ज़ में कश्मीर से केरल और चंडीगढ़ से कलकत्ता तक के बड़े-बड़े शहरों के दौरे करते आए थे। वहाँ उन्होंने कविताएँ सुनाईं, नाट्यांश प्रस्तुत किए, लेकिन कभी किसी ने उनके वृहद उपन्यास पर प्रश्न नहीं किया और यहाँ विदेश में यह जर्मन अध्यापिका उनके उपन्यास के सिलसिले में प्रश्न कर रही थी। अश्क जी ने तय कर रखा था कि जब तक कि उपन्यास पूरा नहीं कर लेंगे, सिर्फ़ लोगों की प्रतिक्रियाएँ सुनेंगे, स्वयं कुछ नहीं कहेंगे। लेकिन उन्होंने अपनी क़सम तोड़ दी और पूरे तीन घंटे तक *गिरती दीवारें* की प्रेरणा और उसके विभिन्न खंडों में जिन समस्याओं को लिया गया है, उनके बारे में विस्तार से अपनी बात कही। भाषण समाप्त

होने पर न केवल सबने तालियाँ बजाईं, बल्कि डॉ. ग्याफ़्के ने उनकी पीठ थपथपाते हुए कहा, 'अश्क' तुमने उपन्यास को हमारे लिए सुगम बना दिया है।' इस भाषण का यह सुफल है कि डॉ. ग्याफ़्के ने तभी अपनी अंग्रेजी पुस्तक *बीसवीं सदी का हिन्दी साहित्य* में पूरा एक चैप्टर उनके उपन्यास पर लिखा और हिन्दी आलोचना की नासमझी का उल्लेख करते हुए समकालीन हिन्दी उपन्यासों पर उसके व्यापक प्रभाव का भी उल्लेख किया।

लेकिन अश्क जी उपन्यास का छठा खंड दस वर्षों तक नहीं लिख सके। बात यह थी कि छठे खंड *पलटती धारा* का अधिकांश भाग लाहौर के परिपार्श्व में लिखा जाना था। अश्क जी चाहते थे कि कुछ ब्यौरों को ताज़ा करने के लिए एक बार लाहौर हो आएँ, लेकिन दोनों देशों के संवंध बिगड़ जाने से अश्क जी वीज़ा नहीं पा सके और न उपन्यास लिख सके। लेकिन अश्क जी चुप नहीं बैठे। उन्होंने *चेहरे अनेक* के नाम से दस खंडों में अपने दोषों का जायज़ा लेने की सोची।

चेहरे अनेक में तो उन्होंने अपने ही दोषों का जायज़ा लिया है, लेकिन पाठक उन खंडों को उनकी साहित्यिक जीवनी का नाम देते हैं। ये संस्मरण अश्क जी की पुस्तक *मंटो मेरा दुश्मन* की तरह विवादास्पद हैं। अश्क जी *चेहरे अनेक* के सिर्फ़ पाँच खंड ही लिख सके क्योंकि 1980 में उन्हें वीज़ा मिल गया था और वे पाकिस्तान चले गए।

पाकिस्तान में उन्होंने इस्लामाबाद, लाहौर, गुजरात और कराची की यात्राएँ कीं। वे विशद नोट्स ले आए, गलियों, बाज़ारों की यादें ताज़ा कर आए। तब आकर 1981 में उन्होंने उपन्यास के छठे खंड को हाथ लगाया और 89 में उसे पूरा किया। लेकिन तभी उन्हें लगा था कि इसमें कुछ ब्यौरे ग़लत जा रहे हैं। इसलिए वे फिर पाकिस्तान गए। उनका संदेह सही था। इसी दौरे में उनका व्यापक स्वागत हुआ। 'अंजुमन-तरक़्क़ी-ए-उर्दू' पाकिस्तान, ने उनकी पचास साला उर्दू की सेवाओं के उपलक्ष्य में अश्क जी को अपना सबसे बड़ा एवार्ड दिया। आकर उन्होंने उपन्यास के अंतिम दो खंड पुनः लिखे। दुर्भाग्य से इस बीच नीलाभ प्रकाशन की स्थिति बेहद गड़बड़ा गई। अश्क जी को 1980 में रेडियो और दूरदर्शन पर मानद प्रोड्यूसर के नाते तीन-साल की ग्रांट मिली। वे एक साल के लिए दिल्ली चले गए। वहाँ उन्होंने अपने छोटे लड़के के लिए विवेक विहार में एक मकान भी बनवाया था, लेकिन दुर्भाग्य से उनके पीछे परिवार में कुछ ऐसा तनाव हो गया कि उनका छोटा बेटा, जो पंद्रह वर्षों से नीलाभ प्रकाशन को देख रहा था, बी. बी. सी. लंदन में मुलाज़िम होकर चला गया। अश्क जी ने मकान के अंदर पैर भी न धरा था कि क्रोध के आवेग में वे मकान बेचकर इलाहाबाद आ गए। अगरचे उन्हें फिर शिक्षा विभाग से अपना उपन्यास पूरा करने के लिए फ़ेलोशिप मिली और उन्होंने सातवाँ खंड शुरू भी कर दिया था लेकिन उनका बड़ा लड़का सख़्त बीमार

हो गया। उनकी पत्नी, जो नीलाभ प्रकाशन की धुरी थी, फ़ालिज की चपेट में आ गई। 1983 में लंदन जाकर अश्क जी अपने बेटे से त्याग-पत्र दिला कर उसे वापिस ले आए थे। इधर सरकार की ग़लत नीतियों के कारण, नीलाभ प्रकाशन को बेहद कठिनाई का सामना करना पड़ा। काग़ज़ के दाम बेहद बढ़ गए। पुस्तकों की सारी ख़रीद सरकार ने अपने हाथ में ले ली। भयंकर भ्रष्टाचार का दौर-दौरा हुआ और अश्क जी बड़े प्रकाशकों से होड़ नहीं ले सके। इस बीच अश्क जी को बहुत-सी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा।

1986 में कौशल्या जी को फिर फ़ालिज का दूसरा अटैक हुआ और उनका पूरा बायाँ अंग पक्षाघात की चपेट में आ गया। छः महीने तक वे बैठ न सकीं। इधर अश्क जी के गोदामों को बरबस हथियाने के लिए इलाहाबादी माफ़िया के लोग पिस्तौल लेकर आ पहुँचे। अश्क जी ने हार नहीं मानी। उन्होंने लखनऊ-दिल्ली एक कर दिया। अपनी आर्थिक परेशानियों से तंग आकर अश्क जी ने एक ऐसा कार्य किया कि हिन्दी जगत में तहलका मच गया।

बात यह थी कि अपनी आर्थिक परेशानियों से तंग आकर अश्क जी ने अपने ही घर में एक परचून की दुकान खोल ली ताकि 'परिवार की रोज़मर्रा की ज़रूरत पूरी हो सके।' इस संदर्भ में कौशल्या जी ने लिखा, "दिल्ली के राष्ट्रीय दैनिकों ने इस पर संपादकीय टिप्पणियाँ लिखीं और परचून की इस दुकान को लेकर देश के अंग्रेज़ी, हिन्दी और सभी भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं में हंगामा मचता रहा। अश्क जी के विरोधियों ने उनका मज़ाक़ उड़ाया तो अश्क जी ने भी तीखे उत्तर दिए और सरकार तथा सरकार के हाथों बिक जाने वाले साहित्यकारों की लिहाड़ी ली और सालभर तक यह चर्चा चलती रही।" *(साक्षात्कार और विचार*–1, पृ. 182)। इसी बीच 1987 में अश्क जी ने सरकार की ग़लत नीतियों और छोटे लेखक प्रकाशकों और लेखकों की दुरावस्था पर प्रधानमंत्री श्री राजीव गाँधी को एक ज्ञापन दिल्ली में उनसे भेंट करके दिया। यह पहली बार नहीं था कि जब अश्क जी ने लेखकों के अधिकारों के लिए अपने बूते पर लड़ाई लड़ी हो। राजीव गाँधी और तो कुछ नहीं कर सके, राष्ट्रीयकृत पुस्तकों पर प्रोराटा रायल्टी की बात उन्होंने स्वीकार कर ली। शिक्षा विभाग के सचिव ने इस आशय का पत्र सभी प्रांतीय शिक्षा परिषदों को भी भेज दिया। लेकिन भ्रष्टाचार के इस युग में उसका कोई लाभ नहीं हुआ—मानव संसाधन मंत्रालय के आदेश के बावजूद। राजीव जी के कहने पर मानव संसाधन मंत्रालय ने अश्क जी को चार वर्षों के लिए वज़ीफ़ा दिया ताकि वे अपना उपन्यास निर्विघ्न पूरा कर सकें। इन दो वज़ीफ़ों ने उपन्यास लिखने में अश्क जी की बहुत सहायता की।

हालाँकि नीलाभ प्रकाशन की स्थितियाँ ख़राब रहीं और अश्क जी के छोटे-बेटे को दूरदर्शन के लिए धारावाहिकों के आलेख लिखने पड़े तो भी अश्क जी ने एक दिन को भी साहित्य-सृजन से हाथ नहीं खींचा—उन्होंने इस बीच उपन्यास के सातवें हिस्से के तीस अध्याय लिख दिए।

1992 की गर्मियों में अश्क जी ने धर्मशाला जाने की सोची। 1934 में घटी एक ट्रेजडी का पुनर्सृजन वे अपने उपन्यास के सातवें खंड में करना चाहते थे। 80 पार कर गए थे। सोचा, अब पहाड़ पर नहीं जा पाएँगे। सौभाग्य से हिमाचल के मुख्यमंत्री श्री शांता कुमार जी को जब इसका पता चला तो उन्होंने अश्क जी को हर तरह की सुविधा देकर धर्मशाला में आमन्त्रित किया। खाने-पीने और आवास की सुविधा के साथ शांता कुमार जी ने उन्हें फुल-टाइम टाइपिस्ट भी उपलब्ध करवा दिया। दिक़्क़त यही थी कि अश्क जी वहुत बूढ़े हो गए थे और उपन्यास खंड के लिए काले पुल से मैक्लोडगंज तक ढाई किलोमीटर की सीधी चढ़ाई चढ़ना ज़रूरी था। अश्क जी ने दो महीने में धीरे-धीरे चढ़ने का अभ्यास किया और अंततः वे चढ़ाई चढ़ गए। अश्क जी साथ में उपन्यास का वही खंड लिख लाए और यह *धौलाधार की छाया* के नाम से 1984 में प्रकाशित भी हुआ। चूँकि छठा वृहद उपन्यास छापने के लिए वे धन उपार्जन नहीं कर सके, इसलिए उन्होंने इसका एक स्वतंत्र खंड *नीला मुझे माफ करना* के नाम से अलग से छपवा दिया जिसकी व्यापक प्रशंसा हुई। इससे प्रेरणा पाकर उन्होंने छठे खंड से ही एक स्वतंत्र उपन्यास खंड *वहरामपुर के वीराने* के नाम से तैयार किया, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका।

अश्क जी 85 के हो गए थे। उनकी आँखों की ज्योति मंद हो गई थी। हाथों में गठिया था, तीस वर्प पुराना दमा था, प्रास्टेट की शिकायत थी। लेकिन इन विकट वाधाओं के वावजूद अश्क जी धीरे-धीरे अपना उपन्यास पूरा करते रहे। 1994 में अचानक उन्हें पता चला कि नीलाभ प्रकाशन पर साढ़े तीन लाख का क़र्ज़ है। ऐसे में, जैसा कि होता है, भाइयों में थोड़ा तनाव आ गया। अश्क जी की अपनी वीमारी, पत्नी की वीमारी, घर में तक़रार। उन्होंने फैसला किया कि वे नीलाभ प्रकाशन को इस स्थिति से उबार देंगे।

उन्होंने पचास वर्ष से छोड़ी हुई पत्रकारिता को अपनाया और साल भर में अट्ठावन लेख लिखे। साथ ही व्याख्यान-मालाओं में हिस्सा न लेने की अपनी क़सम को तोड़ा और दूर-दराज़-अहमदाबाद और इंदौर में व्याख्यान दिए। इस बीच इस मेहनत का फल यह हुआ कि उन्होंने दो निहायत महत्त्वपूर्ण किताबें लिखीं—*1. आधी सदी की हिन्दी कथा लेखिकाएँ 2. सफलता के सूत्र : आत्मानुभव के प्रकाश में।* यही नहीं, वे दिल्ली गए और अपने लेख दैनिक पत्रों के रविवारीय अंकों में दिए। दूरदर्शन से अपने 13 एकांकी नाटकों का सीरियल मंजूर करवा लिया और उसे प्रोड्यूस करने के लिए अपने छोटे बेटे को दिल्ली भेज दिया।

ज़िन्दगी के आख़िरी 7-8 महीनों में अश्क जी ने वहुत यंत्रणा झेली। इन 7-8 महीनों में वे चोट-पर-चोट खाते रहे। पहले कमर में चोट आई। सोचा, वल पड़ गया है। अश्क जी घरेलू नुस्खों पर भी विश्वास करते थे और उनसे लाभ भी होता था। आज़माए हुए घरेलू

उपचार शुरू हुए। लेकिन दर्द कम होने के बदले और भी बढ़ गया। तब पड़ोस में रहने वाले हड्डी विशेषज्ञ डॉक्टर दुबे को बुलाया गया। डॉक्टर ने कमर में एक बालिश्त चौड़ी पेटी बाँध कर पैरों में ईंटें लटका दीं। दर्द के लिए दर्दनाशक गोलियाँ खाने को कहा। अश्क जी दर्द से बेहाल थे, लेकिन यह भी चिन्ता थी अब लिखें-लिखाएँ कैसे? इधर आँखों की ज्योति मंद पड़ गई थी। वे डिक्टेशन देते थे। गरम पानी की बोतल लेकर वे इधर-उधर करवटें बदलते रहते। दर्द को भुलाने के लिए बीस साल पहले लिखे नाटक पर सोचते रहे। नाटक दो बार लिखा था, पर मन मुताबिक़ नहीं बना था। इस दर्द के आलम में उन्हें नाटक, उसका अंत, सब सूझ गया। फ़ाइल निकलवा कर लिखाने लगे। नाटक पूरा हो गया, मनोनुकूल बन गया, दर्द भी कम हो गया। संतुष्ट थे। कहने लगे—इस दर्द, तकलीफ़ से कुछ तो फ़ायदा मैंने उठा ही लिया है, नाटक अब अच्छा बन गया है।

धीरे-धीरे दर्द से थोड़ा आराम होने पर अश्क जी छड़ी लेकर चलने लगे, लेकिन कुछ दिन बाद छड़ी के बावजूद फिर बाथरूम में फिसल कर गिर गए। इस बार उनके सीने और कंधों में चोटें आईं।

लगातार दो-तीन महीने लेटे रहने की वजह से अश्क जी का पेट ख़राब हो गया, ऊपर से दमे ने परेशान किया। वे बहुत कमज़ोर हो गए थे। न उन्हें नींद आती, न ही भूख लगती। डॉक्टर ने उन्हें भूख लगने और नींद आने की दवा दी। अश्क जी दमे की वजह से बरामदे में सोते थे ताकि खुली हवा में उन्हें साँस लेने में दिक़्क़त न हो। अश्क जी ने सोने से पहले नींद की गोली ले ली। आधी रात जब वे पानी पीने उठे तो पता नहीं कैसे तख़्त के सामने पड़ी कुर्सी से टकराए या चक्कर आ गया, वहीं बरामदे में अपने बिस्तर के सामने गिर गए। सुबह एक्स-रे कराया, पता चला कूल्हे की हड्डी टूट गई है। डॉक्टर ने पलस्तर लगाकर पैर में ईंटें लटका दीं, कहा, तीन महीने में हड्डी जुड़ जाएगी। स्वरूप रानी अस्पताल के हड्डी विशेषज्ञ को बुला कर उनकी राय ली तो उन्होंने मेजर ऑपरेशन करने की सलाह दी और कहा थोड़ा रिस्क तो है पर 15-20 दिनों में ये उठने-बैठने लगेंगे। तब उन्हें 24 अगस्त को स्वरूप रानी मेडिकल कॉलेज अस्पताल में भर्ती करा दिया गया।

28 अगस्त को ऑपरेशन का दिन तय हुआ। ऑपरेशन की सारी तैयारी हो गई। परिवार वाले बहुत चिन्तित और परेशान थे, लेकिन अश्क जी बिल्कुल नहीं घबराए। अश्क जी को ऑपरेशन रूम में ले जाने के बाद डॉक्टर बाहर आए और कौशल्या जी से बोले, "सोच लीजिए, रिस्क है।" तब कौशल्या जी ने अपने बेटे नीलाभ से, जो उन दिनों दिल्ली में थे, फ़ोन पर बात की। नीलाभ ने कहा कि पापा की जान का रिस्क लेने का सवाल ही नहीं उठता, ऑपरेशन रोक दीजिए मैं आ रहा हूँ।

तब ट्रैक्शन लगा कर टाँग को शिकंजे में कस दिया गया और पैर में ईंटें लटका दी गईं। अश्क जी बेपनाह दर्द से तड़पते रहते। अश्क जी जैसे चंचल आदमी के लिए

यों बिस्तर से बँध जाना कितनी बड़ी सज़ा थी, उसकी कल्पना की जा सकती है। तो भी उनका ध्यान अपनी रचनाओं में ही लगा रहता।

डेढ़ महीना अस्पताल में रहने के बाद डॉक्टरों की राय से उन्हें घर ले आया गया, लेकिन पूरी तरह ठीक होने में दो महीने और लगने थे।

एक योग्य फ़िज़ियो-थेरेपिस्ट उन्हें कसरत कराने आने लगे। शुरू-शुरू में उन्हें कसरत करने में उलझन हुई, फिर वे लगातार कसरत करने लगे। वे बड़े आशावादी थे, कहते, मैं 15-20 दिन में उठने-बैठने लगूँगा। उन्हें विश्वास था कि वे स्वस्थ हो जाएँगे, परिवार वालों को भी आशा थी कि देर-सवेर वे ज़रूर स्वस्थ हो जाएँगे।

कई तरह की बीमारियों के बावजूद अश्क जी के दुबले-पतले तन में दृढ़ इच्छा-शक्ति थी। मुश्किलों, मुसीबतों, दुश्वारियों और प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने और उनसे पार पाने की अदम्य ऊर्जा थी। 'औसान ख़ता न होने दो' वे अक्सर कहा करते थे और बुरे-से-बुरे हालात में भी बड़े धीरज से सोच कर रास्ता निकाल लेते थे। सारी उम्र अश्क जी समाज की रूढ़ियों, कुरीतियों, बुराइयों, अत्याचार और अशिक्षा तथा अंधकार की शक्तियों के विरुद्ध लड़ते रहे, अपनी पेचीदा होती बीमारी का सामना भी उन्होंने बड़े साहस से किया और मौत से भी उसी तरह संघर्ष किया।

जिस तरह अश्क जी ने अपनी प्रसिद्ध कविता—'दीप जलेगा'—में साहित्य को समरांगण का नाम दिया है, उसी तरह वे ज़िन्दगी को भी युद्ध का मैदान मानते थे। साहित्य के प्रति समर्पित थे, लिखना उनका जीवन था। इसके साथ घर-परिवार के प्रति भी उन्होंने अपना कर्त्तव्य निभाया।

वे बड़े पोते की शादी कर चुके थे। उसके छोटे भाई की शादी उन्होंने 2 नवंबर को तय की थी, लेकिन अश्क जी की बीमारी के कारण शादी की तारीख़ बढ़ा कर 27 दिसंबर की रखनी पड़ी। घरवालों ने एकदम सीधे-सादे ढंग से शादी करने का फ़ैसला किया। बारात, बैंड-बाजा कुछ नहीं। तय हुआ कि अश्क जी के कमरे के सामने चबूतरे पर मंडप सजा दिया जाएगा, दुलहिन को वे लोग शादी के लिए ले आएँगे और सीधे-सादे ढंग से शादी हो जाएगी। अश्क जी कमरे के दरवाज़े में कुर्सी पर बैठ कर देखेंगे।

लेकिन छोटे पोते की शादी से तीन-चार दिन पहले अश्क जी की तबीयत मंद पड़ने लगी। वे किसी तरह हिम्मत बाँध कर व्हील चेयर पर दो घंटे बैठ कर शादी की रस्में देखते रहे।

दावत भी बहुत अच्छी हुई। सब मेहमानों ने अश्क जी के कमरे में आकर उनका हाल पूछा उन्हें बधाई दी, बातें की। वे संतुष्ट और खुश थे, लेकिन बहुत थक गए थे। 'अब और किसी को न लाना। मैं बहुत थक गया हूँ सोना चाहता हूँ।' उन्होंने बेटे से कहा और निढाल लेट गए।

उसके बाद उनकी तबीयत में सुधार नहीं हुआ। डॉक्टर आते रहे, बदल-बदलकर दवाइयाँ देते रहे, ड्रिप भी लगाया गया और जब परिवार वाले सोच रहे थे कि अब वे स्वस्थ हो जाएँगे, अचानक 3 जनवरी को उनकी हालत बहुत बिगड़ गई। उसी वक़्त उन्हें फिर अस्पताल ले जाना पड़ा। सबसे पहले ऑक्सीजन लगा कर डॉक्टरों ने आपस में राय-मशविरा किया। ख़ून चढ़ाया गया, ग्लूकोज चढ़ाया गया। हाथ की नसें, पैरों की नसें, नेज़ल फीडिंग के लिए नाक में पाइप, वे सुइयों से बिंध गए। डॉक्टरों ने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी, लेकिन सब बेकार। 19 जनवरी को कमरे में डॉक्टरों की भीड़ थी, परिवार वाले एक तरफ़ कोने में या बरामदे में दम रोक कर खड़े रहे। अश्क जी की नब्ज़ डूब गई थी, साँस रुक गई थी, डॉक्टर उन्हें रिवाइव कर रहे थे। कुछ समय बाद नब्ज़ वापस आ गई, साँस चलने लगी, दिल धड़कने लगा। लेकिन वे बेहोश थे। 19 जनवरी की शाम तक यही सिलसिला रहा। डॉक्टर, दवाएँ, दुआएँ, बेटों-पोतों-बहुओं की अनथक सेवा-सुश्रूषा, अश्क जी को किसी तरह बचा लेने के प्रयास सब असफल हो गए और अश्क जी मौत से लड़ते रहे, कि ज़रा दम लो, ठहर जाओ, बस मेरे वृहद उपन्यास *गिरती दीवारें* के सिर्फ़ 15-20 चैप्टर रह गए हैं, अभी मैं नहीं जा सकता। अश्क जी सचमुच योद्धा थे, आखिरी साँस तक मौत से डट कर लड़े, लेकिन वे बहुत कमज़ोर हो गए थे, बहुत थक गए थे। अपने उपन्यास को ख़त्म न कर सकने की छटपटाहट लिए वे 19 जनवरी को सूरज डूबने के साथ ही सिन्क कर गए—उस बड़े जहाज़ की तरह जो प्रचंड तूफ़ान के थपेड़े खाता धीरे-धीरे डूबता है, बस उसकी ध्वजाएँ और बत्तियाँ देर तक दिखाई देती रहती हैं।

(ख) व्यक्तित्व

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार लक्ष्मीकांत वर्मा ने अपने एक लेख में अश्क के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए लिखा है, "आदमी के जीने का एक अंदाज़ होता है। हर आदमी का अंदाज़ अलग-अलग होता है। ग़लती हम वहाँ करते हैं, जहाँ हम अपने अंदाज़ से दूसरों का चरित्र विश्लेषण करते हैं। मूलतः हमें उनके चरित्रों से उनकी विशेषताएँ विश्लेषण करके निकालनी चाहिए।" (*विवादों के घेरे में,* पृ. 28) अश्क के व्यक्तित्व को समझने के लिए यह बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि अश्क जी के साहित्य में हम उन्हें ढूँढ़ने की कोशिश करेंगे तो पाएँगे कि उनके साहित्य से उनके व्यक्तित्व के जिन पक्षों का पता चलता है वे बहुत नाकाफ़ी हैं। उनके साहित्य से उनके व्यापक जीवनानुभव का तो पता चलता है, गहरी पर्यवेक्षण दृष्टि और संवेदनशीलता का पता चलता है, वे व्यंग्य करने में माहिर होंगे, इसका पता चलता है लेकिन इतना कुछ शायद किसी अन्य साहित्यकार को समझने के लिए पर्याप्त हो, मगर अश्क जी जैसे अंतर्विरोधों के पुंज साहित्यकार के लिए अपर्याप्त हैं क्योंकि उनके साहित्य और रोज़मर्रा के व्यवहार में अश्क का व्यक्तित्व

आश्चर्यजनक रूप से पृथक है। अपनी स्टडी टेबल पर ही अपना तमाम गांभीर्य छोड़कर एक जीवंत, यारबाश, बातूनी, फक्कड़ व्यक्ति के रूप में जीवन जीते हुए उन्होंने अपना व्यक्तित्व इतना व्यापक बना लिया था कि उसके प्रत्येक रोयें-रेशे को अभिव्यक्त कर पाना—वह भी कुछ पृष्ठों में—संभव नहीं है। अतः उनके व्यक्तित्व की कुछ मोटी-मोटी, साफ़ रेखाएँ ही यहाँ खींची जा सकती हैं। वैसे भी जो लेखक स्वयं *आईने के सामने* आकर अपने चेहरे उतार कर परत-दर-परत स्वयं को उघाड़ रहा हो, उसके व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू को संक्षेप में समेट पाना कहाँ संभव है। इस संदर्भ में रमेश शौनक ने अपने शोध प्रबंध में ठीक ही लिखा है कि "अश्क जैसे कर्मठ व्यक्तित्व को परिभाषित करना और उनके वैविध्यपूर्ण जीवन को संक्षिप्त-सी जीवनी के द्वारा पकड़ पाना संभव नहीं है। इसके लिए तो जीवनी के कई खंड दरकार होंगे।" (Upendra Nath Ashk : A brief biography Amid the Theme of Society and Self in his Semi-biographical Trilogy. P. 22)

हिन्दी के वरिष्ठ कवि नरेश मेहता ने अश्क के व्यक्तित्व को लेकर लोगों की अच्छी-बुरी राय के मूल कारण पर प्रकाश डालते हुए ठीक ही लिखा है, "असल में हिन्दी की तबीयत और रंग अश्क से बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। बात दरअसल यह है कि हिन्दी-साहित्य की बड़ी प्राचीन परंपरा रही है, इसलिए हम लोगों को दिन-रात गंभीर रहना पड़ता है। सांस्कृतिक दायित्व का बराबर अनुभव बना रहता है, जबकि जनाब अश्क हैं कि टेढ़ी टोपी लगाए, मफ़लर उड़ाते जब हमारे बीच होते हैं तो कई बार तो उन्हें स्वीकारने में ही कठिनाई होती है हमें। वे अपनी आँख और मुँह का भरसक उपयोग करते हैं और हिन्दी का साहित्यकार अपनी गंभीरता के लिए कोई चुनौती नहीं स्वीकार सकता। लेकिन क्या बात है कि बड़ी गंभीर चर्चा के बीच अश्क सहसा कोई 'टुच्ची' बात कह देंगे और ज़ोरों से हँस देंगे कि बस!! मज़ा यह है कि उनके झेंपने की बजाय बाक़ी सब झेंप रहे होते हैं। असल में अश्क जी आज की, आज के लेखकों की कमज़ोरियों से, विषमताओं से, विविधताओं से एवम् धूर्तताओं से पूर्ण परिचित हैं। वे तो सिर्फ़ एक शैतान बच्चे की तरह आपके मुखोष्ठ की झिल्ली फाड़ कर, और ठहाका लगा देते हैं। वे जानते हैं कि आदर्श या सिद्धांत मात्र सुविधाएँ हैं, प्रहार और रक्षा के लिए, जिसे वे एक व्यंग्यकार की भाँति पर्दा उठाकर उस पर पुनः पर्दा नहीं डालते और फलस्वरूप औचक में पर्दा उठने के कारण हमारे 'राम और सीता' बीड़ी पीते दिख जाते हैं और सब एक स्वर से चीख पड़ते हैं 'अश्क हिन्दी का सबसे बड़ा फ्राड है!!' 'पर्दा गिराओ, पर्दा गिराओ।' (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व*, पृ. 124)

अश्क जी की प्रकृति में जो मस्त-मौलापन और फक्कड़ता है, वह हिन्दी के गंभीर रचनाकारों को रास नहीं आता। वे अपनी सारी गंभीरता अपनी लिखने की मेज़ पर ही छोड़ आते हैं। दोस्तों-दुश्मनों के बीच बैठ कर बतियाना उन्हें पसंद था। बकौल राजेन्द्र यादव, "जाने क्यों अश्क जी और गंभीरता-ये दो शब्द मेरे दिमाग़ में साथ-साथ आते ही

नहीं। सामान्य-से-सामान्य बात को निहायत मनहूस मुँह बनाकर 'गंभीरता' प्रदान करने वालों के बीच व्यंग्य और परिहास से मुस्कराते होंठ और आँखों की कुटिल चमक अकारण और अनायास ही कौंध जाती है और अश्क जी का ख़्याल आ जाता है। गंभीरता, बुजुर्गी, मनहूसियत, मुर्दनी अश्क जी के जीवन-कोश में नहीं है।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व*, पृ. 64) अश्क जी की इसी जीवंतता को सामने रख कर ही राजेन्द्र यादव ने यह स्वीकार किया है कि उन जैसा ज़िन्दादिल आदमी मिलना मुश्किल है। *अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व* पुस्तक में उनके छत फाड़ ठहाकों की गूँज हर पृष्ठ पर महसूस की जा सकती है।

अश्कजी की सफलता के पीछे उनका अनवरत परिश्रम है। इसकी पुष्टि अश्क के प्रायः सभी सहकर्मी रचनाकार अपने-अपने ढंग से करते हैं। डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा कहते हैं, "अश्क अपने कठिनतम परिश्रम और कष्टसाध्य लेखन के बल पर खड़े हैं।" (*विवादों के घेरे में*, पृ. 15) उदयन वर्मा उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष को यूँ व्यक्त करते हैं, "अश्क की साहित्यिक सफलता के लिए यह बात भी ज़िम्मेदार है कि उन्होंने कभी अपने आपको जीनियस नहीं समझा। यही कारण है कि एक बार कलम से जो लिख दिया, वह 'न भूतो न भविष्यति' जैसी बात उनके साथ नहीं। एक छोटा-सा लेख भी लिखना होगा तो उसे तीन-तीन, चार-चार बार नए सिरे से लिखेंगे और उसकी नोक-पलक दुरुस्त करने में हफ़्तों लगा देंगे। और तो और महत्त्वपूर्ण पत्र भी वे दो-तीन बार लिखकर सँवार-सुधार कर भेजते हैं।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व*, पृ. 137) अश्क जी के अनवरत परिश्रम, अपार लगन के साथ-साथ यह बात उनकी रचना-प्रक्रिया के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर भी प्रकाश डालती है। मृत्यु-पर्यन्त अपनी रचनाओं को माँजने-सँवारने का यह कार्य अश्क जी करते रहे हैं। अश्क जी के अपार धैर्य का भी यह स्पष्ट प्रमाण है। स्वयं अश्क जी ने एक साक्षात्कार में कहा है, "मेरी कोई ही रचना होगी, जिसको मैंने तीन-चार बार न लिखा हो और कुछ रचनाएँ तो मैंने पाँच-पाँच बार भी लिखी हैं। मुझे काटने-छाँटने और सँवारने में रस भी मिलता है।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व*, पृ. 239)

अश्क जी के व्यक्तित्व की एक महत्त्वपूर्ण बात, कहूँ कि नायाब गुण उनकी अपनी और दूसरों की रचना के प्रति ईमानदारी है। अपने कटु आलोचक कथाकारों या शत्रुओं की श्रेष्ठ रचनाओं की उन्मुक्त मन से प्रशंसा करते और अपने परम मित्रों की कमज़ोर रचना की कटु आलोचना करते उन्हें देखा जा सकता था। रचना के प्रति यह ईमानदारी अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ती। इस दृष्टि से अश्क ने अपने कई शत्रु बनाए, लेकिन रचना की कसौटी की अपनी परख की टेक उन्होंने कभी नहीं छोड़ी। इस संदर्भ में अश्क जी का अपना कहना है, "मुँह देखी प्रशंसा मुझसे नहीं होती। चीज़ यदि अच्छी

नहीं तो मेरे मुँह से प्रशंसा नहीं निकल सकती। सो मैं अपने परम शत्रु की रचनाओं को सराहता हूँ और मित्र की रचनाओं की आलोचना कर देता हूँ और दोस्त दुश्मन बन जाते हैं।" अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए *विवादों के घेरे में* नामक अपने लंबे साक्षात्कार में वे कहते हैं, "हिन्दी के अधिकांश लेखक अपनी व्यक्तिगत शत्रुता प्रतिद्वंद्वी के साहित्य के बारे में ख़ामोश रह कर अथवा उसकी उत्कृष्ट रचनाओं को नकार कर निकालते हैं, लेकिन उत्कृष्ट रचनाओं की निन्दा करनेवाला हमेशा असफल और कुंठित होता है, क्योंकि वे समय से अपनी सत्ता मनवा लेती हैं। मैं इस तथ्य को जानता हूँ और ऐसी बेवकूफ़ी नहीं करता। मुझे कोई हज़ार गाली दे, हज़ार मेरे बारे में ख़ामोशी अख़्तियार करे, मुझे रचना अच्छी लगती है तो मैं प्रशंसा ही करता हूँ। मेरे पिता ने मुझे यही सिखाया है और लगातार मैंने अपने आपको उसी की ट्रेनिंग दी है..." लक्ष्मीकांत वर्मा ने इसी संदर्भ में यह लिखा है, "अपने चालीस वर्ष के लेखन के अनुभव में अकेले अश्क ही ऐसे मिले, जिन्होंने अपनी कटु आलोचना की भी दाद दी है।" (*विवादों के घेरे में,* पृ. 13) अश्क जी की रचनाओं की कटु आलोचना करने वाले वर्मा जी जैसे उनके कई और मित्र भी थे लेकिन अश्क जी ने कभी उसका बुरा नहीं माना। इन पंक्तियों का लेखक यह कभी नहीं भूल सकता कि उनके *गिरती दीवारें* माला के *पलटती धारा* नामक उपन्यास के एक पूरे चैप्टर को जब मैंने फालतू कहा तो अश्क जी ने उसे निकाल दिया। कई ग़ज़लों के शेर तक बदल दिए। अपनी आयु के अंतिम मगर अत्यंत परिपक्व वर्षों में इस प्रकार की ग्रहणशीलता और दृष्टि का खुलापन मुझे अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिला।

अश्क जी की यही ग्रहणशीलता और खुलापन है जो वे नए से नए लेखक से भी अत्यंत सहजता से मिलते थे। इस बात को लक्षित करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं, "शायद अपनी पीढ़ी में वे ही अकेले ऐसे लेखक हैं जो उम्र और अवस्था की सारी दीवारें तोड़ कर नए-से-नए लेखक से उसी धरातल पर मिल सकते हैं, उनके कंधे पर हाथ मारकर हँसी-मज़ाक़ कर सकते हैं और समान मित्र की तरह सलाह दे सकते हैं। इसलिए भय और श्रद्धा के स्थान पर एक अजब आत्मीयता का संबंध फौरन स्थापित कर लेते हैं।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व,* पृ. 65) बात यहीं समाप्त नहीं होती। अश्क जी दो क़दम और आगे बढ़ते हैं। वे अपरिचित नए रचनाकार की उत्कृष्ट रचना पर उसे प्रशंसात्मक पत्र तक लिख देते हैं। हिन्दी के ऐसे कई लेखक हैं जो इसकी गवाही देते हैं। रवीन्द्र कालिया ने इसका ज़िक्र अश्क से इण्टरव्यू लेते हुए भी किया है। किसी नवोदित लेखक को पढ़ना, फिर उसकी प्रशंसा भी करना, अश्क के ही व्यक्तित्व का हिस्सा था।

अश्क जी ने अपने व्यक्तित्व के एक ऐसे पक्ष पर प्रकाश डाला है जिसे जाने-समझे बिना उनके द्वारा रचित विपुल साहित्य का रहस्य नहीं समझा जा सकता।

अश्क जी का कहना है, "मेरा दिमाग़ अत्यंत क्रियाशील है। दिमाग़ का एक भाग निरंतर रचनारत रहता है।" इसे और स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं, "मेरे दिमाग़ का एक अंश पूर्णतः लेखक का रहता है और तमाम कर्तव्य निभाते हुए निरंतर रचनारत रहता है।" (*साक्षात्कार और विचार*-2, पृ. 20) दिमाग़ की इस क्रियाशीलता के साथ-साथ उन्हें प्रकृति ने एक और गुण भी प्रदान किया है। अश्क जी ही के शब्दों में, "स्मृति मेरी फ़ोटोग्राफ़िक है। वर्षों पहले की घटनाएँ अपने नन्हे-से-नन्हे ब्यौरे के साथ मुझे याद है।" (*विवादों के घेरे में*, पृ. 54) संभवतः इसलिए यदि अश्क जी यह कहते हैं, "भगवान ने मुझे अर्ज (urge) दिया—सृजन की दुर्दमनीय उत्कंठा—और दी है श्रम करने की वेपनाह शक्ति" (*साक्षात्कार और विचार*-2, पृ. 86) तो ग़लत नहीं कहते। इस सत्य को ध्यान में रखें तो उनका यह कथन यथार्थ प्रतीत होता है, "मेरे लिए लेखन ज़िन्दगी का पर्याय है। मैं लिखता हूँ तो लगता है कि ज़िन्दा हूँ। नहीं लिखता तो मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता।" (*कहानी के इर्द-गिर्द*, पृ. 114) लेखन के प्रति पूर्णतया समर्पित अपने जीवन के इसी पक्ष को उद्‍घाटित करते हैं जब अश्क जी ये कहते हैं, "जो संबंध मेरे रास्ते की दीवार बन जाए, उसे निर्ममता से काट देने अथवा उससे स्वयं कट जाने की मैं शक्ति रखता हूँ। मेरी दूसरी पत्नी की मिसाल तुम्हारे सामने है। मैं उसके साथ रहता तो लेखक बना रहता, इसमें मुझे भारी संदेह है।" (*कहानी के इर्द-गिर्द*, पृ. 114) दरअसल अश्क जी ने बहुत पहले इस सच से साक्षात्कार कर लिया था कि लेखक होना उनकी नियति है। वे इसके सिवा कुछ और हो ही नहीं सकते। बकौल अश्क, "मैं लेखक होना अपनी नियति मानता हूँ। मैंने बहुत पहले जान लिया था कि यही मेरी नियति है।...मैं दिन-रात लिखता हूँ।...लेकिन मैं न थकता हूँ, न ऊबता हूँ। इसका सिर्फ़ यही मतलब है कि लेखन मुझे सुख देता है और यही मेरी नियति..." (*विवादों के घेरे में*, पृ. 56)

लेखन को अपने जीवन का पर्याय स्वीकार करके भी अश्क जी यह कहने में संकोच नहीं करते कि, "मुझे इस बात का पूरा एहसास है कि मेरे पास उल्का की तरह साहित्याकाश पर छा जाने वाली प्रतिभा नहीं है, पर मुझे अपने श्रम और ग्रहणशीलता पर पूरा भरोसा है, पुराने और नए लेखकों, आलोचकों—विशेषकर निन्दकों तथा पाठकों की सम्मतियों से मैंने सदा लाभ उठाया है। आत्मालोचना की हिस मैंने बड़ी साधना से पैदा की है और जो मेरे पास नहीं है, श्रम और साधना से उसे पा लेने का मुझे पूरा-पूरा विश्वास है।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व*, पृ. 239)

इस आत्म-विश्वास के मूल में है अश्क जी द्वारा जिया गया भरपूर जीवन। अपने जीवनानुभवों के आलोक में ही वे नई से नई पुस्तक का सृजन करते रहे हैं। खुद उन्होंने जीवन को एक पाठशाला स्वीकार किया है और कहा है, "यूँ मैंने शास्त्र-पुराण भी पढ़े हैं, लेकिन उनसे भी ज़्यादा मैंने ज़िन्दगी को बाँचा है, ज़िन्दगी को पूरी तरह जिया है, इंसानों से कंधा रगड़ा है, उन्हें उलट-पलट कर देखा है, समझा और जाना है, अपने अंदर झाँका है और अनेक चेहरों को पहचाना है। सो मैंने जो देखा, भोगा, झेला, सोचा, समझा

या महसूस किया है, उसे ही मैंने कभी अपरोक्ष और कभी परोक्ष, कभी प्रत्यक्ष और कभी प्रच्छन्न रूप से, कभी व्यंग्य, विद्रूप और हास्य के माध्यम से और कभी विडंबना का सहारा लेकर, कभी उसका यथार्थपरक, कभी प्रतीकात्मक और कभी तथ्यपरक चित्रण करके अपने पाठकों के सामने रखा है ताकि वे उसके माध्यम से अपने आपको, अपने समाज को, अपने परिवेश को, यथार्थता को जाने-समझें। ज़िन्दगी की कटु यथार्थता को जान कर सपने देखें और आदर्श बनाएँ ताकि वे उन्हें पूरा होते देख सकें।" (*साक्षात्कार और विचार*-2, पृ. 30)

जीवन को बाँचने के कारण और प्रेमचंद के विचारों को मानने के कारण ही अश्क जी सदा यह कहते रहे, "कठिन भाषा लिखना मुश्किल नहीं, मुश्किल है आसान और प्रवाहमान भाषा लिखना और जटिल बात को सुगम और सरल बना कर पेश करना।" (*साक्षात्कार और विचार*-1, पृ. 135) अपने इन विचारों पर आजीवन अश्क जी खरा उतरने का प्रयत्न करते रहे। उन्होंने कहा भी है "यह जो मैं इतनी क़ाट-छाँट करता हूँ, वह इसलिए कि ठीक जगह ठीक शव्द रखूँ। तीन-चार भाषाएँ जानने से मेरे पास चुनाव की बहुत गुंजाइश है, सरल अभिव्यक्ति के लिए मैं सरल शब्द का चुनाव कर सकता हूँ।" (*विवादों के घेरे में*, पृ. 69) उल्लेखनीय है कि अश्क जी की इस प्रवृत्ति के कारण ही हिन्दी के अधिकांश आलोचकों ने उनके साहित्य को 'सरल' या 'गांभीर्यता की कमी' का पर्याय तक मानकर दरकिनार कर दिया जबकि सत्य इसके ठीक विपरीत है।

अश्क जी में अपने से उबर कर दूसरों के लिए भी कुछ करने का रोग था। भले ही ऐसे कई मित्रों से उन्हें तकलीफ़ पहुँची हो लेकिन उन्होंने इस वजह से कभी दूसरों की सहायता करने से अपना हाथ नहीं खींचा। अश्क जी के इस पक्ष का ज़िक्र कम हुआ है। इसका मुख्य कारण उन्मुक्त भाव से इस सत्य को स्वीकार न कर पाने की मानवीय दुर्बलता है जो साथी साहित्यकारों में है और जिसके कारण वे अश्क पर लिखते समय इस सत्य से आँख चुरा लेते हैं। लक्ष्मीकांत वर्मा ने अपने संस्मरण में अपनी ही नहीं दूसरों की भी मदद का स्पष्ट उल्लेख किया है। स्वयं इस संदर्भ में अश्क जी सदा मौन रहे हैं जो उनके बड़प्पन की ही निशानी है।

अश्क जी के व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण पहलू पर प्रकाश डालते हुए लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है, "उस सख़्त खोल के भीतर नर्मी उनके व्यक्तित्व में ठीक वैसे ही है जैसे अखरोट के कड़े छिलके के भीतर दूधिया गिरी होती है। अश्क के व्यक्तित्व का यह पक्ष बहुत कम लोग जानते हैं, लेकिन यह भी उनके रंगीन व्यक्तित्व का एक ऐसा पक्ष है कि जिसके बिना चित्र पूरा ही नहीं होता।" (*विवादों के घेरे में*, पृ. 25) अश्क जी की सहज-विश्वास की प्रवृत्ति के पीछे उनके स्वभाव की यही निश्छलता है। इसी संवेदनशीलता के कारण साहित्य साधना में अहर्निश डूबे होने के बाद भी अश्क जी कभी भी अपने

परिवार से नहीं कटे। अपनी बहुओं, पोतों से एक आत्मीयता का नाता सदैव उन्होंने बनाए रखा। एक कुशल गृहस्थ का अदम्य पुरुषार्थ भी उनके व्यक्तित्व का अनिवार्य गुण है।

अश्क जी जैसा स्पष्टवादी, मुँहफट लेखक केवल दूसरों की आलोचना करना या अपने व्यक्तित्व के सुंदर, प्रभावशाली पक्ष को ही उद्घाटित करना नहीं जानता। अपने लेखों और साक्षात्कारों में उन्होंने अपनी कमज़ोरियों और दुर्बलताओं को स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। अश्क जी का कहना है, "व्यावहारिकता, समय-साधकता, अथवा मुँह देखी कथनी मेरे किरदार की खूबियाँ नहीं रहीं। अपने कमरे में बैठ कर मैं कभी झूठ नहीं बोला। यदि मैंने दूसरों की आलोचना की है तो अपने आपको भी नहीं बख़्शा। मैंने अपनी तमाम ख़ामियों का भी जायज़ा लिया है। उन्हें मानता हूँ और लिख भी रहा हूँ। ज़ाहिर है कि जो व्यक्ति अपने प्रति इतना क्रूर हो सकता है, वही दूसरों की आलोचना भी कर सकता है।" (*साक्षात्कार और विचार*-2, पृ. 87-88)

अश्क जी ने सबसे पहले अपनी जिस कमज़ोरी का उल्लेख किया है, उसका ज़िक्र प्रायः उनके संपर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को करते देखा जा सकता था और यह भी सच है कि एक दृष्टि से ये कमज़ोरी नहीं है। अश्क जी का कहना है, "मैं स्वभाव से यारबाश आदमी हूँ। दोस्तों में बैठना, गप्प लगाना, चुहल करना—सब मुझे पसंद है। न जाने अपने इस विनोदी और चुहलबाज़ की खुशी के लिए मैंने कितना समय और धन गँवाया।" (*खोने और पाने के बीच,* पृ. 94) अश्क जी की यारबाश तबीयत के किस्से पूरे इलाहाबाद में सुने जा सकते हैं।

अपने एक अन्य दोष पर अँगुली रखते हुए अश्क जी ने लिखा है, "मैं बहुत ही पिनकी, तुनुकमिज़ाज, निहायत हस्सास बौर भावप्रवण प्राणी हूँ।" (*खोने और पाने के बीच,* पृ. 134) अपनी इसी तुनुक मिज़ाजी के कारण वे स्वयं को बेहद क्रोधी और हठी पाते हैं। इस संदर्भ में उनका कहना है, "क्रोधी तो मैं हूँ।...मेरा क्रोध भड़भड़िया नहीं है। वहुत ही ठंडा और सदा सुलगता रहनेवाला है—जब तक मैं ज़्यादती या अपमान का प्रतिकार नहीं कर लेता, मेरा क्रोध शांत नहीं होता। क्रोध के साथ मेरे किरदार में बेपनाह हठ है। उसी हठ के कारण हुआ कि मैंने साहित्य क्षेत्र में क़दम रखा तो अपने उद्देश्य से रंच-मात्र इधर-उधर नहीं भटका।" (*खोने और पाने के बीच,* पृ. 121) इस हठ से अश्क जी ने जहाँ कई कठिनाइयों पर विजय पाई, वहीं कई असफलताओं का मुँह भी उन्हें देखना पड़ा।

अपने विद्वेष का स्पष्ट उल्लेख करते हुए *साक्षात्कार और विचार भाग-2* में एक जगह वे कहते हैं, "विद्वेष तो मुझ में बहुत ही ज़्यादा है। सतानेवाले को या ठगनेवाले को या मेरे सहज विश्वास का अनुचित लाभ उठानेवाले को या अकारण तकलीफ़

पहुँचाने वाले को मैंने कभी क्षमा नहीं किया।" (पृ. 52) अपने इस दुर्गुण की चर्चा करते हुए भी अश्क जी इस बात के प्रति सचेत हैं कि उनकी किसी रचना का उद्रेक भले ही यह विद्वेष हो, "लेकिन मैं ज़ोर देकर यह भी कहना चाहूँगा कि यदि मेरी किसी रचना को पढ़ कर मेरे किसी पाठक को यह महसूस हो कि उसका उत्स मेरा व्यक्तिगत विद्वेष है, तो मेरी वह रचना असफल है।" (वही) यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अश्क जी ने अपने इस क्रोधी और विद्वेषी रूप को *चेहरे अनेक* के दूसरे भाग में बेबाक अभिव्यक्ति दी है। इस प्रक्रिया में कई अन्य साहित्यिक चेहरे भी उघड़ गए हैं जिसके परिणामस्वरूप इनके प्रकाशन से हिन्दी में हंगामा हो गया था।

विद्वेष के साथ ही अपने एक और दुर्गुण का उल्लेख अश्क जी ने शौनक के पत्रों का जवाब देते हुए किया है। अपने संबंध में प्रचलित विवादों में भले ही अन्य दोस्तों-दुश्मनों का हाथ हो लेकिन स्वयं अश्क भी इसमें योगदान देते हैं। उनका कहना है, "इन सब विवादों में सारा दोष लेखकों का ही हो और मेरा कहीं भी न हो, ऐसी बात नहीं। तमाम दुखों और तकलीफ़ों के बावजूद मुझमें एक खिलंदड़ापन अभी तक शेष है। चूँकि मैं प्रायः सभी पुराने-नए लेखकों के निकट संपर्क में रहा हूँ, इसलिए सबको जानता हूँ, और जब कोई पोज़ बना कर या बन कर बात करता है, तो मैं उसे और बना देता हूँ। कभी-कभी ऐसे प्रैक्टिकल जोक्स में मेरा समय और धन भी लग जाता है और ज़ाहिर है कि इस तरह के मज़ाक़ों का भंडा फूटने पर कुछ मुझे भी सहना पड़ता है और विवाद भी उठते हैं, लेकिन झूठे और स्वयं-सिद्ध क़िस्म के लेखकों के साथ दूसरा कोई व्यवहार मुझसे नहीं बन पड़ता। क्योंकि तरह दीजिए तो इस तरह के लेखक वैसे भी आराम से नहीं बैठने देते।" (*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि*, पृ. 46-47)

अश्क जी ने अपने इन दोषों के बारे में कहा है, "सबसे बड़ा संघर्ष जीवन में मुझे अपने साथ करना पड़ा है और इस संघर्ष का अंत मुझे दिखाई नहीं देता। आदमी प्रायः अपने दोषों को नहीं जानता और अपेक्षाकृत सुखी रहता है। मेरा दुर्भाग्य है कि मैं अपने दोषों को भी जानता हूँ। जो लेखक दूसरे व्यक्तियों के दोषों पर निर्मम प्रहार करता है, वह खुद को कैसे क्षमा कर सकता है? मेरे कुछ ऐसे दोष थे जो मेरे आगे बढ़ने के मार्ग की बाधा थे। उनमें से कुछ पर मैंने अधिकार पाया और कुछ को गुणों में परिवर्तित कर लिया कि लोगों को मेरे वे दोष (जो निश्चित रूप से दोष हैं) गुण दिखाई देते हैं, लेकिन अहं-गत, सेक्स-गत, और स्वभाव-गत मेरे कुछ ऐसे दोष हैं, जो मेरे ख़ून का अंग हैं, जन्म-गत है, उन पर विजय पाना बड़ा ही कठिन है। निरंतर मैंने उनके साथ संघर्ष किया है। मुझे यह स्वीकार करने में संकोच नहीं कि मैं सफल नहीं हुआ। तो भी इतना संतोष ज़रूर है कि उस हानि को, जो उनसे संभव थी, मैंने इस संघर्ष से कम ज़रूर किया है।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व*, पृ. 239) यह अश्क जी के व्यक्तित्व का ही हिस्सा है जो इस खुलेपन और स्पष्टता से अपने दोषों की स्वीकारोक्ति करते हैं और अपने लेखन का इसे विषय भी बनाते हैं।

अश्क जी ने अपने दोषों का स्पष्ट उल्लेख किया हो, उन्हें दूर कर पाने न कर पाने में सफलता-असफलता को स्वीकार किया हो, इतना भर ही नहीं है। उन्होंने साहित्य को पूर्णतया समर्पित होने पर जो दो नायाब चीज़ें खोईं, उनका भी स्पष्ट उल्लेख किया है। बकौल अश्क, "साहित्य के अनुकरण में मैंने दो ऐसी चीज़ें भी खोई हैं, जिनसे मैं सचमुच विपन्न हुआ हूँ। पहला प्यार। दूसरी दोस्ती।...मेरी ज़िन्दगी में बार-बार ऐसी युवतियाँ आईं—सुंदर और असुंदर दोनों—जो मुझसे प्यार करती थीं। दो-एक ऐसी भी थीं, जिनसे मैं भी प्यार करता था, लेकिन जब-जब ऐसे मौके आए, मैंने निर्ममता से अपने आपको काट लिया।" (*खोने और पाने के बीच,* पृ. 93) इसका कारण बताते हुए वे आगे कहते हैं, "मैं तो बहुत पहले साहित्य का हो गया था। तब से संकुचित प्यार का कैसे होता? प्यार की थ्रिल तो अभूतपूर्व है, लेकिन वह थ्रिल बार-बार मिले, इसके लिए बहुत कुछ की कुर्बानी देनी पड़ती है। मेरे जैसे व्यक्ति के पास, जिसने अपना जीवन साहित्य के लिए समर्पित कर दिया हो, प्यार के लिए कुछ भी नहीं बचता।...मेरे मन में और बहुत कुछ खोने की कसक नहीं है, लेकिन प्यार को खोने की कसक ज़रूर है।" (*खोने और पाने के बीच,* पृ. 94)

अश्क जैसे यारबाश आदमी को अपने इस शौक पर भी उम्र घटने और काम के बढ़ जाने के कारण अंकुश लगाना पड़ा। परिणामतः "मैं नितांत अकेला हो गया हूँ—मित्रविहीन, एकाकी, विपन्न।" (*खोने और पाने के बीच,* पृ. 95) अश्क जी के जीवन के इन अभावों को समझे बिना उन्हें समझना संभव नहीं है। अश्क जी के व्यक्तित्व के इस पक्ष को बहुत कम रेखांकित किया गया है जबकि इसे समझे बिना उनके व्यक्तित्व की मूल बुनावट को जाना ही नहीं जा सकता। अपने दुर्गुणों और अभावों को स्वीकार करने वाले शायद अश्क जी हिन्दी के अकेले रचनाकार हैं। ऐसा साहस हिन्दी साहित्यकारों में कम ही देखने को मिलता है।

अश्क जी के व्यक्तित्व के इन विभिन्न पक्षों को देख कर ही राजेन्द्र यादव ने लिखा है, "अश्क अनेक—कहीं-कहीं अत्यंत तीव्र—अंतर्विरोधों की निर्मिति हैं। चूँकि प्रकृति से मस्त-मौला और फ़क्कड़ हैं, इसलिए किसी भी चीज़ को गंभीरता से नहीं ले पाते। अपने घर के गंभीर, शिष्ट और नियमबद्ध वातावरण में वे स्वयं रहते हुए नहीं लगते—टिके हुए लगते हैं। लगता है—कहीं कुछ ऐसा है—उनके भीतर—या बाहर—जो उनके व्यक्तित्व की मौलिक माँग के साथ मेल नहीं खाता—और शायद यह खंडित व्यक्तित्व का ही अप्रत्यक्ष बोध है कि उनके लेखन और जीवन में एक अजब 'सिनिसिज़्म' झलक मारने लगता है। जो कुछ प्रिय और पवित्र है, उसे एक दुष्ट दिलचस्पी से खुरचने की प्रवृत्ति—अक़सर उनकी कई रचनाओं में दिखाई दी है...यह प्रवृत्ति लेखकीय निर्भीकता और तत्वगामी जिज्ञासा नहीं—एक गहरे अविश्वास और प्रतिशोध की सूचना देती है। ...अंतर्विरोध हर व्यक्ति में होते हैं और कलाकार के भाग्य में उत्कट अंतर्विरोध का शिकार होना वदा होता है, लेकिन यहाँ उनका रूप दूसरा होता

है...आंतरिक रूप से यह उसकी संस्कृत (आदर्श) मनुष्यता और आदिम मानवता का निरंतर अविश्रांत युद्ध होता है...लेकिन अपनी मौलिक निष्ठा वह प्रिय और पवित्र पर ही रखता है...जहाँ-जहाँ और जब-जब यह निष्ठा टूटी है—पराजय के हताश उन्माद में कलाकार ने अविश्वास और प्रतिशोध के पंजों से अपने 'प्रिय और पवित्र' को ही नोचा है...मुझे नहीं मालूम अश्क जी की मानसिक प्रक्रिया में कहाँ, क्या कुछ ग़लत हो गया है, लेकिन इतने संपन्न व्यक्ति और परिवेश के बीच भीतर की यह टूटन, चौंकाती अवश्य है...तब लगता है यह 'खींचना' और 'खेलना' मात्र मन-बहलाव ही नहीं है।—किसी गहरी ट्रेजिडी की अनजानी प्रतिक्रियाएँ हैं...(*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व,* पृ. 67)

अश्क जी के व्यक्तित्व के सभी पक्षों को विस्तार से तो क्या, संकेत रूप में भी व्यक्त कर पाना यहाँ संभव नहीं है। उनके संपूर्ण व्यक्तित्व पर जो चीज़ सर्वाधिक हावी है, वह है उनका अदम्य साहस। अश्क जी ने सारी उम्र संघर्ष किया—घोर संघर्ष में भी अतीव संवेदनशील होते हुए भी उन्होंने कभी हार नहीं मानी। राजेन्द्र यादव के शब्द उधार लूँ तो कहूँ, "जो मनःस्थिति मुझे प्रभावित करती है—वह है उनकी अतिशय आत्म-विश्वास की मनःस्थिति! अदम्य और अपराजेय जिजीविषा की अभिव्यक्ति है।" (*अश्क : एक रंगीन व्यक्तित्व,* पृ. 64)

अपनी बीमारी में भी अनवरत काम करते हुए बहुत से लोगों ने उन्हें देखा है। अपनी इसी अदम्य जिजीविषा के कारण ही वे हर कठिनाई को मात देते चले गए। वे कहा करते थे :

फैंक दें चाहे हवादिस राह से हर बार दूर
जाएगी मंज़िल कहाँ जब ज़िन्दगी मंज़िल में है।

अश्क जी की मनःस्थिति, उनके अदम्य साहस, जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण, साहित्य-सृजन के प्रति गहरी आसक्ति को उनकी 'नहीं' कविता तथा इन पंक्तियों के माध्यम से बख़ूबी समझा जा सकता है :

जन्म दूसरी बार मिले तो—
स्वास्थ्य मिले, यह तो चाहूँगा
लेकिन हो मस्तिष्क यही
हो भाव-प्रवणता यही सर्जना की उत्कंठा
श्रम का धीरज रहे यही बेहतर की इच्छा
ज़रा और प्रतिभा मिल जाए तो क्या कहना
ज़रा और ज़्यादा पढ़ पाएँ तो क्या कहना

प्रारंभिक लेखन
(1926 से 1938 तक)

अश्क जी ने अपना साहित्यिक जीवन एक कवि के रूप में शुरू किया था और वह भी एक पंजाबी कवि के रूप में। शीघ्र ही वे पंजाबी में बैतबाज़ी छोड़कर उर्दू में ग़ज़ल कहने लगे। पंजाबी में लिखना छोड़ने का मुख्य कारण जहाँ निम्न जाति के उस्तादों का होना था, वहाँ भाषा का विकसित न हो पाना भी था। उर्दू ग़ज़ल भी अश्क जी ज़्यादा देर तक न कह सके। यहाँ भी इसे छोड़ने का मुख्य कारण उनके उस्ताद का उपेक्षा भाव था। (इन सब बातों पर विस्तार से चर्चा 'कवि अश्क' में करेंगे।) बहरहाल, बाद में वह कहानी की ओर प्रवृत्त हुए क्योंकि ग़ज़ल की भाँति उसे न किसी को दिखाने की आवश्यकता होती है और न किसी से संशोधन करवाने की। अपने उस्ताद आज़र साहब से ख़फ़ा होकर जो पहली कहानी अश्क जी ने लिखी वह थी 'अहदे गुज़श्ता की याद' (1927)। अपने मित्र अख़्तर के साथ मिलकर, जब यह कहानी 'नज़्म' बनकर 'गुरु घंटाल' में छपी तब उस पर अख़्तर का नाम तो था, अश्क जी का नहीं था। इस पर उन्हें बेहद क्रोध आया और ईर्ष्या भी हुई। तब "अपनी सत्ता मनवाने को वह कहानी मैंने अपने उम्र में बड़े अपने एक अन्य उस्ताद भाई श्री अमरचंद क़ैस की मदद से एक लघु मासिक पत्रिका *सत्य सिंगार* में छपवाई और फिर एक बरस बाद उस मुश्किल नाम के बदले एक हल्का-सा नाम 'याद हैं वो दिन' देकर मासिक *मानसरोवर* में। शायद वह और भी दो-एक परचों में छपी और उन दोनों पत्रिकाओं के तराशे आज भी मेरी फाइल में मौजूद हैं।" (*मेरी प्रिय कहानियाँ*, पृ. 8)

अश्क जी के संपूर्ण लेखन का जायज़ा लेना हो तो प्रारंभ से 1936-38 तक के उनके लेखन को अलग करके देखना होगा। इसका मुख्य कारण वह दृष्टि है जो उन्हें 1936 में मिली और जिसने उन्हें न केवल परिपक्व किया बल्कि जीवन को यथार्थवादी ढंग से देखना और सोचना सिखाया। तब अश्क जी ने पहले से एकदम अलग क़िस्म की रचनाएँ की। यानी अश्क जी की अत्यंत लोकप्रिय कहानी 'डाची' से उनके लेखन का नया दौर शुरू होता है जो उनके जीवन के अंत तक विकासमान रहता है। अश्क जी का अपना कथन भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, "1934 से 36 तक मेरी ज़िन्दगी में बहुत कुछ ऐसा घटा, जिसने न केवल अपनी ज़िन्दगी के बारे में मेरा दृष्टिकोण बदल दिया, बल्कि मुझे वह यथार्थवादी दृष्टि भी दी, जिससे मैंने दुनिया को एक नई नज़र से देखना

सीखा और पहले से एक दम अलग क़िस्म की रचनाएँ की।" (*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि*, पृ. 118)

अश्क जी की यह पहली कहानी जो उन्होंने उर्दू में लिखी थी कुछ यूँ शुरू होती थी :

"याद हैं वो दिन, जब सुबह के वक़्त इधर आफ़ताब अपनी सुनहरी किरणों से सारे जहान को रौशन कर देता, उधर तू अपनी चाँद-सी-सूरत लिए, सिर पर घड़ा उठाए, नाज़ो-अदा से कुएँ पर आती। मैं तुझे उलफ़त से देखता, हाँ....हाँ मुहब्बत से देखता।" (*ज्यादा अपनी : कम परायी*, पृ. 200)

इस कहानी के बाद अश्क जी ने पीछे मुड़कर नहीं देखा और निरंतर कहानियाँ लिखते रहे। 'रिश्ता-ए-उल्फ़त', 'सीरत की पुतली उर्फ़ बेवफ़ा बीवी', 'ख़ामोश शहीद', 'आज़ाद मुतरिब', 'इतने नज़दीक', 'अहसासे फ़र्ज़', 'सरदार', 'बुद्धू मियाँ' उस समय की कहानियाँ हैं। *नौ रतन* उनका पहला कहानी संग्रह है जिसमें उनकी पाँच कहानियाँ संकलित हैं तथा जिसकी भूमिका अमरचंद क़ैस ने पद्य में लिखी थी। अपनी प्रारंभिक कहानियों के विषय में अश्क जी का कहना है, "तात्कालिक आंदोलनों प्रेमचंद और रणवीर सिंह वीर के स्टाइल में कहानियाँ लिखता था। 'रिफ़ाकत', 'मुहब्बत', 'सैलाव', 'ख़ामोश शहीद', 'शकुंतला' आदि उन्हीं दिनों की कहानियाँ हैं। ये सत्याग्रह और क्रांतिकारी आंदोलनों पर लिखी, सत्याग्रहियों और क्रांतिकारियों के मनोविज्ञान को जाने बिना आदर्श के रंग में रँगी बुद्धि के बदले भावना पर खड़ी *नौ रतन* से किंचित् बेहतर किन्तु उसी सिलसिले की कहानियाँ हैं।" (*सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ*, पृ. 20)। ये कहानियाँ हिन्दी में नहीं छपीं। इसके बाद 'औरत की फ़ितरत', 'ताँगे वाला', 'भिश्ती की बीवी', आदि कहानियाँ भी लिखीं जो पर्याप्त चर्चित हुईं। इनमें 'औरत की फ़ितरत' कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो यह अश्क जी द्वारा लिखी पहली कहानी से बेहतर बनी। दूसरे अश्क जी के विवादास्पद रचनाकार होने की शुरुआत यहीं से होती है। अश्क जी ने इस कहानी पर विवाद का ज़िक्र करते हुए *मेरी अफ़सानानवीसी के चालीस बरस* में लिखा है, "हुआ यूँ कि चंदन के दूसरे ही अंक में फारमन क्रिश्चियन कॉलेज़ लाहौर की दो छात्राओं का एक ख़त प्रकाशित हुआ जिसमें औरत की फ़ितरत के बारे में उन्होंने यह एतराज़ किया कि लेखक ने इसमें हिन्दोस्तानी औरत को ग़लत रंग में पेश किया है और उसकी रिवायती शौहर-परस्ती और बेवफ़ाई एकनिष्ठता की हँसी उड़ाई है।" (पृ. 56) इससे लाहौर के साहित्यिक क्षेत्र में अच्छा-ख़ासा वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। भले ही सुदर्शन जी ने अगले ही अंक में कहानी पर उठी आपत्ति का उचित जवाब दे दिया था मगर अश्क जी को तसल्ली न हुई और उन्होंने प्रेमचंद को पत्र लिखकर इस पर उनकी राय माँगी। इस प्रकार प्रेमचंद से पत्र-व्यवहार का सिलसिला भी यहीं से शुरू होता है।

अपने प्रारंभिक दौर में अश्क जी पर 'ग़ैरमारूफ़ जर्नलिस्ट'—जिसका असल नाम रतनचंद मोहन था—का भी बहुत प्रभाव रहा। वह विदेशी कहानियों को अपने देसी रंग रूप में

रूपांतरित करके अपने नाम से छपवाता था। बकौल अश्क, "जब मैं अख्यात पत्रकार से कहानियाँ सुनता और उन कहानियों के मुक़ाबले में मुझे अपनी कहानियाँ वस्तु और कला के विचार से बेजान और शिल्प-विहीन दिखाई देतीं। अपनी ही नहीं सुदर्शन और प्रेमचंद की सामाजिक कहानियों में भी मुझे कल्पना की वह उड़ान, शिल्प का वह सौष्ठव और परिष्कार तथा आधारभूत विचार की वह नवीनता न दिखाई देती।" (*सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ*, पृ. 22)

ऐसे में अश्क जी ने राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं को छोड़कर उसी तरह की काल्पनिक कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया—'ऐरोमा', 'कुर्बानगाहे इश्क', 'चित्रकार की मौत', 'जहन्नुम का इंतख़ाब', 'वह मेरी मंगेतर थी', 'नज्जिया', 'निशानियाँ'—जैसी कहानियाँ उसी शैली में लिखी।

अश्क जी मानते हैं कि "इस अख्यात पत्रकार की संगति में जिन कहानियों की ओर मैं मुड़ा, वे निरुद्देश्य कहानियाँ थीं। कहानी-मात्र मनोरंजन के लिए।" (*सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ*, पृ. 24) लेकिन ऐसी कहानियाँ पढ़ने-सुनने से अश्क जी ने कहानी के उस गुण को भली-भाँति जान लिया जो कहानी को मनोरंजक बनाता है। अश्क जी की बाद की कहानियों में भी यह गुण ज्यों का त्यों विद्यमान है। अतः अश्क जी का यह श्रम निष्फल नहीं गया। धीरे-धीरे इस पत्रकार का प्रभाव अश्क पर कम होने लगा और उनके सामने जीवन का यथार्थ खुलने लगा। 'आर्टिस्ट', 'संवाददाता' 'सतीत्व का आदर्श' जैसी लघु कथाएँ इसका प्रमाण हैं। अपनी इस प्रारंभिक कहानियों के बारे में अश्क जी का कहना है, "उस ज़माने में अनोखे और अनजाने प्यार की रूमानी कहानियाँ मैं कल्पना से लिखता था; आदर्श नारियों, प्रेमियों, नेताओं, कला!कारों को अपनी कहानियों में रखता था। मेरी उन कहानियों को (और मेरी फ़ाइल में कम-से-कम 40 ऐसी अप्रकाशित कहानियाँ पड़ी हैं) ज़िन्दगी का ज़रा भी स्पर्श नहीं मिला था।" (*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि*, पृ. 119)

अपनी पत्नी की बीमारी और मृत्यु ने अश्क जी के सामने जीवन को जिस नंगे रूप में रखा उसने न केवल उनके प्रारंभिक प्रयासों, प्रभावों पर रोक लगा दी बल्कि यथार्थ का वह विशाल फ़लक उनके सामने खोल दिया कि अंतिम कहानी तक उन्हें फिर कभी पात्र गढ़ने, कल्पना से कथा बुनने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

प्रारंभिक प्रयासों में अश्क जी के दो उपन्यासों और एक नाटक का ज़िक्र भी आवश्यक है। कहानियाँ, लिखते-लिखते वे एक उपन्यास लिखने लगे *एक रात का नरक*। यह उपन्यास "समाप्त होते-न-होते मेरी नज़र से उतर गया और मुझे लगा कि उसके कुछ परिच्छेद किसी वृहदाकार उपन्यास के अंग तो बन सकते हैं, लेकिन कुल मिला कर अपने में सफल उपन्यास नहीं कहला सकते।" (*उपन्यासकार अश्क*, पृ. 60) प्रसंगवश,

यह उपन्यास *गिरती दीवारें* के चौथे खंड, *बाँधो न नाव इस ठाँव* का हिस्सा बना। हिस्सा बनने से पहले यह सुबोध पॉकेट बुक्स से इसी नाम से छपा भी। इसके बाद अश्क जी ने *सितारों का खेल* उपन्यास लिखा जिसे मूलतः उनका पहला उपन्यास समझा जाता है। इसे अश्क जी अपरिपक्व ही नहीं गढ़ा-गढ़ाया उपन्यास भी मानते हैं। उनका कहना है, "यद्यपि उस समय तक आँखों को यथार्थवादी दृष्टि नहीं मिली थी तो भी कुछ आदर्शवादी स्थितियों की यथार्थता पाने का प्रयास मैं ज़रूर करता था। मेरे दिमाग़ में बचपन से सती अनुसूइया की कथा सुनते-सुनते यह प्रश्न प्रायः उठा करता था कि कोई युवती जीवन-भर किसी अपाहिज को लिए कैसे घूम सकती है। अपने इर्द-गिर्द के जीवन पर जब मैं निगाह दौड़ाता था तो मुझे लगता था कि ऐसा संभव नहीं; धर्म, समाज और अति भावुकता, यही तीन ज़ंजीरें हैं जो किसी साधारण नारी को उस प्रकार की सती बना सकती हैं। इसी आधारभूत विचार को यथार्थ की कसौटी पर परखने के लिए मैंने कल्पना से एक कहानी गढ़ी, ऐसी परिस्थितियाँ गढ़ीं, जिनसे ऐन-मैन वैसे ही अपाहिज प्रेमी को लिए-लिए घूमने पर उपन्यास की नायिका विवश हुई।" (*उपन्यासकार अश्क,* पृ. 60-61)

भले ही यह उपन्यास गढ़ा-गढ़ाया है, लेकिन यह लोकप्रियता में कम नहीं रहा। ओंकार शरद को इस रोमानी कहे जाने वाले उपन्यास में *गिरती दीवारें* का यथार्थवाद बीज रूप में मिलता है तो राजबल्लभ ओझा को इस दुखांत उपन्यास में शरत बाबू की-सी मर्मस्पर्शी भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं। बाबू गुलाबराय को कला की दृष्टि से यह बहुत उत्कृष्ट रचना लगती है तो इंद्रनाथ मदान इसे एक घटना प्रधान उपन्यास मानते हुए इसमें उठाए गए नियति के प्रश्न को प्रमुख उद्देश्य स्वीकार करते हैं।

अश्क जी का मानना है कि यह अभी आधा भी नहीं लिखा गया था कि उनके जीवन में कई घटनाएँ ऐसी घटी कि ज़िन्दगी के बारे में उनका दृष्टिकोण ही बदल गया। इर्द-गिर्द की चीज़ों को वह गहराई से देखने लगे। "अपनी इस नई दृष्टि से मैंने पाया कि ज़िन्दगी गढ़े-गढ़ाए ढंग से नहीं चलती।" (वही, पृ. 64) तब उनके दिमाग़ में एक वृहदाकार उपन्यास की रूपरेखा बनने लगी और उन्होंने तय किया कि ऐसा गढ़ा-गढ़ाया उपन्यास अब उनकी कलम से दूसरा न आएगा और वे *गिरती दीवारें* लिखने लगे।

कुछ ऐसी ही बात *जय-पराजय* के बारे में भी अश्क जी ने कही है। इस नाटक में राजकुमार चंड, भारमली और राघवदेव जैसे आदर्श पात्रों की सृष्टि हुई थी। राजस्थान के जीवन का गहन अध्ययन किए बिना 'टाड' और कल्पना की सहायता से उन्होंने यह नाटक लिखा था और फिर यह फ़ैसला किया था कि वैसा ऐतिहासिक नाटक और नहीं लिखेंगे।

जय-पराजय को हिन्दी के श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों में गिना जाता है। गोपाल कृष्ण कौल का कहना है, "इस ऐतिहासिक नाटक में भी अश्क की दृष्टि यथार्थवादी रही है।

उन्होंने राजपूत काल की अपने गुण-दोषों से युक्त यथार्थ तस्वीर का ही अंकन किया है, इसलिए *जय-पराजय* ऐतिहासिक नाटकों की परंपरा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।" (*नाटककार अश्क*, पृ. 193) लेकिन अश्क जी इसके कई संस्करणों और लाखों में बिकने के बाद भी यह कहते हैं कि उन्होंने पुनः ऐसा नाटक नहीं लिखा, "जो केवल पाठ्यक्रम में तो आ सके किन्तु खेला न जा सके।" (*ज़्यादा अपनी : कम परायी*, पृ. 211)

नाटक के साथ-साथ एकांकी लिखने का प्रयत्न भी अश्क जी ने किया। *वेश्या* एकांकी उन्होंने शुरू तो किया लेकिन आगे न बढ़ सका। इस बीच अश्क जी की पहली पत्नी की मृत्यु हो गई। "उसकी बीमारी और मृत्यु के दौरान में होने वाली कुछ घटनाओं का ऐसा प्रभाव मेरे मन पर पड़ा कि जब एक दिन मन बहलाने के लिए मैं अपने छोटे भाई के कोर्स का एक अंग्रेज़ी एकांकी-संग्रह लेकर पढ़ने बैठा तो ख़त्म करने के बाद कई एकांकी मेरे दिमाग़ में कौंध गए। मैंने पहले *पापी* लिखा, फिर *अधिकार का रक्षक*, फिर *लक्ष्मी का स्वागत*। ये तीनों नाटक लिखते-लिखते मुझे एकांकी लिखने का कुछ ऐसा ढंग आ गया कि जब मैं एक दिन *वेश्या* का अधूरा मसौदा लेकर बैठा तो वह अपने आप पूरा हो गया।" (*ज़्यादा अपनी : कम परायी*, पृ. 209) इसके बाद अश्क एकांकी लिखते चले गए।

इन सब प्रारंभिक रचनाओं ने अश्क जी को पर्याप्त लोकप्रियता प्रदान की। इसी अवधि में अश्क जी ने उर्दू से हिन्दी में आने का फैसला किया। 1926 से 1936 तक वे लगातार उर्दू में लिखते रहे। इसके बाद अश्क जी नियमित रूप से हिन्दी में लिखने लगे। हिन्दी की ओर लाने में हरिकृष्ण प्रेमी, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रेमचंद, श्रीनाथ सिंह और वाचस्पति पाठक का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। 1936 से जीवन के अंत तक लिखा ढेर सारा साहित्य मूलतः हिन्दी में रचित है। अपने उर्दू से हिन्दी में चले आने का अश्क जी ने कई लेखों और साक्षात्कारों में सविस्तार उल्लेख किया है। वैसा विस्तार यहाँ संभव नहीं है। संक्षेपतः अश्क जी ही के शब्दों में "हुआ यूँ कि 1934 में हिन्दी भवन लाहौर से भारती नाम की एक हिन्दी पत्रिका निकली, जिसके संपादन हेतु श्री हरिकृष्ण प्रेमी खंडवा से लाहौर आए, श्री उदयशंकर भट्ट पहले ही से वहाँ थे। इन दोनों कवियों के गिर्द हिन्दी प्रेमियों का ग्रुप बन गया। मालूम नहीं कैसे प्रेमी जी से मेरा परिचय हुआ, लेकिन हममें काफ़ी घनिष्ठता हो गई। उन्हीं के साथ मैं भट्ट जी, माधव जी और श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार के यहाँ आने-जाने लगा। हिन्दी की ओर खींचने में प्रेमचंद ने भी परोक्ष रूप से बड़ी सहायता की। 1933 में उन्होंने मेरे दूसरे उर्दू कहानी-संग्रह *औरत की फ़ितरत* की भूमिका लिखी। पर उनसे मेरा पत्र-व्यवहार सदा उर्दू में होता रहा। ये सच है कि वो मुझे *हंस* में लिखने को कहते थे और उन्होंने मेरी एक छोटी कहानी स्वयं अनुवाद करके अपने साप्ताहिक *जागरण* में भी दी थी, पर मैं हिन्दी में प्रेमी जी के संपर्क में आने के

बाद ही लिखने लगा।" (*ज़्यादा अपनी : कम परायी*, पृ. 214) माखनलाल चतुर्वेदी के *कर्मवीर* में भी उनकी कहानियाँ छपने लगीं तो वे प्रोत्साहित होकर हिन्दी में लिखने लगे।

इसी के साथ बंगाल के इंजीनियर हरिभाई गोविल जिसने कि हिन्दी का लाइनो-टाइप ईजाद किया था, चंद्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा ही एक पार्टी में हिन्दी को सर्वाधिक वैज्ञानिक भाषा ही नहीं कहा बल्कि स्वतंत्र भारत की होने वाली राष्ट्रीय लिपि बताया। उसने अश्क जी जैसे उर्दू में लिखने वालों का यह भ्रम तोड़ दिया कि उर्दू सारे हिन्दुस्तान में बोली, समझी और पढ़ी जाती है। तब अश्क जी ने जाना कि उर्दू का ज़ोर लाहौर, दिल्ली, लखनऊ या हैदराबाद तक है। पत्रिकाएँ तो केवल लाहौर और दिल्ली से निकलती हैं। जबकि हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ कलकत्ते से लेकर इंदौर तक और लाहौर से लेकर खंडवा तक फैली हुई हैं। तब अश्क जी ने हिन्दी में लिखने का फ़ैसला किया।

एक और महत्त्वपूर्ण बात अश्क जी ने उर्दू के साथ जुड़ी सांप्रदायिक भावना को लेकर भी कही है। उनका कहना है, "मैं जिस समय की बात करता हूँ, उस समय हर उर्दू पत्रिका में एम. असलम पहले छपते थे। प्रेमचंद को उन दिनों हिन्दी में उपन्यास-सम्राट कहा जाने लगा था। उस उपन्यास सम्राट को जब मैंने तमाम उर्दू पत्र-पत्रिकाओं में एम. असलम के बाद छपते देखा तो मुझे बहुत गुस्सा आया और मुझे लगा कि यह उर्दू वालों की (ज़ाहिर है कि उसमें सभी एडीटर मुसलमान थे) सरासर फ़िरकापरस्ती है और मैंने तय किया कि मैं हिन्दी में लिखूँगा, जहाँ किसी तरह की सांप्रदायिक कन्सिडरेशन न होगी और मुक़ाबिला सिर्फ़ मैरिट पर होगा। (*साक्षात्कार और विचार*–2, पृ. 152)

इन सभी कारणों से हिन्दी में लिखने के बावजूद अश्क जी ने उर्दू का दामन कभी नहीं छोड़ा। वे कुछ-न-कुछ उर्दू में लिखते रहे।

जीवन के अंतिम वर्षों में वे न केवल पुनः उर्दू में ग़ज़ल कहने लगे थे, अपनी हिन्दी में लिखी रचनाओं को उर्दू का ज़ामा पहनाने लगे थे बल्कि *मेरी अफ़साना नवीसी के चालीस बरस* जैसी किताब मूलतः उर्दू में लिख कर प्रकाशित करवा रहे थे। अधिकांश साहित्य हिन्दी में होते हुए भी अश्क जी केवल हिन्दी के रचनाकार नहीं थे। मुंशी प्रेमचंद के बाद अकेले अश्क थे जो दोनों ज़ुबानों को समान सम्मान देते रहे। दोनों ज़ुबानों पर समानाधिकार वाले लेखकों में शमशेर बहादुर सिंह और देवेन्द्र इस्सर का नाम भी लिया जा सकता है। लेकिन इन तीनों में परिमाण और गुणवत्ता की दृष्टि से अश्क जी निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण निकलते हैं।

गिरती दीवारें : उपन्यास-माला

आकार की दृष्टि से विश्व का सबसे बड़ा पहला उपन्यास टालस्टाय का *वार एण्ड पीस* है। अपनी गुणवत्ता में भी वह विश्व के दस श्रेष्ठ उपन्यासों में गिना जाता है। डेढ़ हज़ार पृष्ठों में फैले इस उपन्यास में नेपोलियन के रूसी अभियान की पृष्ठभूमि में रूसी जनता का चित्रण हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी में रचित यह उपन्यास आज भी अपना सानी नहीं रखता। इसके बाद इससे आकार में बड़ा उपन्यास इसी देश में छपता है—मिखाइल शोलोखोव का *धीरे बहो दोन रे* (And Quiet Flows the Don)। 1928 से 1940 के मध्य रचा गया यह उपन्यास दोन के किनारे बसे कज़्ज़ाकों की प्रथम विश्वयुद्ध के समय की स्थिति को अभिव्यक्त करता है। चार-भागों में प्रकाशित यह उपन्यास दो ढाई हज़ार पृष्ठों में फैला हुआ है। इसी उपन्यास से वस्तु के फैलाव और कथानक के ढीलेपन को लेने की बात अश्क जी ने कही है। इन दोनों बृहद्काय उपन्यासों की तुलना में आकार की दृष्टि से अश्क का उपन्यास, *गिरती दीवारें, शहर में घूमता आईना, एक नन्ही किन्दील, बाँधो न नाव इस ठाँव* (दो भाग), *पलटती धारा* तथा *इति नियति* (अपूर्ण) कुल छः भागों में हैं। चार-साढ़े चार हज़ार पृष्ठों में फैला यह उपन्यास अपने ढंग का अकेला है। इसे यदि विश्व का वृहद्तम उपन्यास कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी।

गिरती दीवारें उपन्यास-माला अश्क जी की अत्यंत महत्त्वाकांक्षी रचना है। 1936-37 से शुरू होने वाले लेखन से लेकर जीवन के अंत तक वे अनेक अन्य रचनाएँ करते हुए बार-बार इस रचना को पूरा करने की ओर प्रवृत्त होते रहे हैं। भले ही हिन्दी-साहित्य संसार ने उनकी इस रचना की भूरि-भूरि प्रशंसा और कटु आलोचना के बाद मौन साध लिया हो, अश्क जी अपनी अंतिम साँस तक इससे जुड़े रहे और इसे पूरा करने की अदम्य इच्छा से वशीभूत रहे। अपनी इस रचना के बारे में उन्होंने अनेक लेखों, साक्षात्कारों, पत्रों में सविस्तार चर्चा की है। यहाँ संकेत रूप में ही इस उपन्यास के सृजन के मुख्य कारणों पर प्रकाश डाला जा सकता है।

यह उपन्यास ही नहीं, बाद के सारे यथार्थवादी लेखन के पीछे, अश्क जी को 1934-36 के बीच हुए कटु अनुभव हैं। अश्क जी के शब्दों में "इन दो वर्षों में मैंने ज़िन्दगी को ऐसे नंगे रूप में देखा कि मेरी सारी रोमानियत उड़न-छू हो गई और मुझे वे आँखें मिल गईं, जो प्रकट दिखाई देने वाली चीज़ों के पीछे छिपी यथार्थता देख सकें।" (*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि*, पृ. 120) इन दो वर्षों में लाख प्रयत्नों के बावजूद अश्क जी अपनी यक्ष्माग्रस्त पत्नी को, जिसे वे चाहने लगे थे, बचा नहीं सके। "मैं समझता हूँ

कि मेरी सरल पहली पत्नी की मृत्यु–केवल मृत्यु नहीं–जिन परिस्थितियों में वह मृत्यु हुई, वह सब मेरे साहित्य की मूल प्रेरणा में जुड़ गया।" (*उस्ताद की जगह ख़ाली है*, पृ. 58)

अपने इन दो वर्षों के कटु अनुभवों और इनसे प्राप्त नई दृष्टि के आलोक में जब अश्क जी ने अपने चारों ओर नज़र दौड़ाई तो पाया कि "मानव तो गुण-दोषों से बना है, कि जीवन तो कूड़े-करकट, धुँए-धुंध, गर्द-गुबार, कीचड़ और दलदल से अटा पड़ा है। मानव इतना सरल नहीं कि देवता हो, वह पासे का सोना नहीं, अष्टधातु का मिश्रण है, कि उसके बाहर ही उलझनों का अपरिमित विस्तार नहीं, उसके अंतर में वे गिनती स्तर हैं, जिनके नीचे ऐसी-ऐसी अँधेरी कंदराएँ हैं, जिनकी झाँकी मात्र कँपा देने को यथेष्ट है।" (*उपन्यासकार अश्क*, पृ. 65)

अतः *सितारों के खेल* पूरा करते-करते उनके दिमाग़ में एक ऐसे वृहदाकार उपन्यास की रूपरेखा बनने लगी, "जिसमें समाज की रूढ़िवादिता और कुरीतियों के शिकंजे में जकड़े हुए एक निम्न-मध्यवर्गीय युवक के मनोविज्ञान का यथार्थवादी चित्रण हो।" (*उपन्यासकार अश्क*, पृ. 61-62) उन्हीं दिनों की एक घटना का ज़िक्र करते हुए अश्क जी ने *गिरती दीवारें* की दूसरी मुख्य प्रेरणा का वर्णन यूँ किया है, "मैं एक साँझ मक़्तबा-ए-उर्दू (लाहौर) में बैठा यों ही किताबें उलट रहा था कि प्रो. फ़य्याज़ महमूद आ गए। प्रोफ़ेसर साहब मेरी ही उम्र के युवक थे। उन्हीं दिनों लिखने लगे थे। कहानियाँ और एकांकी लिखते थे। दो-चार रचनाओं ही से उन्होंने साहित्यकारों का ध्यान अपनी ओर खींच लिया था। उन दिनों मेरा उपन्यास *सितारों के खेल* प्रकाशित हुआ था। उसको लेकर बात आरंभ हुई अथवा चौधरी नज़ीर ने उनसे कोई उपन्यास लिखने को कहा–जो भी हो, प्रोफ़ेसर साहब बोले कि वे पहले से गढ़े-गढ़ाए उपन्यास पसंद नहीं करते। वे कभी लिखेंगे तो ऐसा उपन्यास लिखेंगे जो जीवन ही की तरह चले, बढ़े और फैले; पहले से तय-शुदा आरंभ या अंत उसका न हो। मेरे दिल में अनजाने ही उनकी बात रम गई।" (*गिरती दीवारें : भूमिका*, पृ. 9)

अश्क जी ने अपने नए अनुभवों से यह जान लिया था कि "जीवन तो वास्तव में उन्हीं छोटे-बड़े अनुभवों, उन्हीं नन्हे-नन्हे, प्रकट में अकिंचन और निरर्थक, पर यथार्थ जीवन पर गहरा असर छोड़ जाने वाले, ब्यौरों से बना है।" (*गिरती दीवारें, भूमिका*)। तब अश्क जी ने "शायद प्रोफ़ेसर महमूद की बात से प्रेरणा पाकर, निम्न-मध्यवर्ग के एक साधारण युवक के जीवन के पाँच वर्ष ले लिए..." (वहीं) अश्क जी की ये उपन्यास-माला उस युवक चेतन के जीवन के केवल पाँच वर्षों की कहानी है जिसका पहला खंड *गिरती दीवारें* हैं।

गिरती दीवारें का पहला खंड "नायक की उम्र के उस हिस्से को लेकर लिखा गया है, जबकि वह नहीं समझ पाता कि अंततोगत्वा जीवन में उसे क्या करना है, कि उसकी

प्रतिभा जीवन में किस मार्ग को पकड़कर विकसित होगी? वह कभी इस मार्ग को पकड़ता है, कभी उसको! कभी एक ओर सरपट भागता है, कभी दूसरी ओर—वह साहित्यकार, संगीतज्ञ, चित्रकार, अभिनेता—सभी कुछ बनना चाहता है—उम्र के इसी भाग के जोश, वलवलों, आशाओं-निराशाओं, कल्पना के पारस को छूकर एक क्षण में बन उठनेवाले और यथार्थता की ठोकर से दूसरे ही क्षण ढह जानेवाले बुदबुद से स्वप्नों, उसके असफल प्रेम और अनमेल विवाह तथा उसके अंतर और बाह्य द्वंद्वों को उपन्यास का यह भाग दर्शाता है।" (*उपन्यासकार अश्क,* पृ. 66-67) इस उपन्यास को लिखते समय अश्क जी ने दो बातों का विशेष ध्यान रखा है। एक कि वो जो कुछ कहें पात्रों के जीवन, उनके जीवन की घटनाओं, अंतर्द्वंद्वों और उलझनों के माध्यम से कहें। लेखक जहाँ तक संभव हो, स्वयं उसमें न कूदे। न बहस में पड़े, न भाषण झाड़े। संभवतः इसी बात को लक्षित करके ड्यूक विश्वविद्यालय डरहम (अमरीका) के हिन्दी प्राध्यापक रमेश शौनक ने इसे अनोखा और हिन्दी के चंदेक उपन्यासों में प्रमुख माना है जहाँ उपन्यास के नायक को ऐट वर्क-याने कार्यरत दिखाया गया है—"गर्दन, कमर और दिल तोड़नेवाली तमाम पीड़ा, कुंठाओं और झगड़े-झंझटों के साथ दैनंदिन चर्या में डूबे हुए।" (*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि,* पृ. 151-152) दूसरे नायक जितनी उम्र का है, उससे बड़ी उम्र की बात न बोले। उसके मुँह में बड़ी-बड़ी बातें रखना कठिन नहीं था। कठिन था तो ऐसा न करना। इस बात को ठीक से न समझ पाने के कारण ही संभवतः डॉ. यश गुलाटी को चेतन में कुछ ऐसे दोष दिखाई दे गए जिन पर उन्होंने पूरा निवंध ही लिख दिया, जबकि इन्हीं दोषों को निम्न-मध्यवर्गीय युवक के मनोविज्ञान को सामने रखकर उद्घाटित करना उनका उद्देश्य था। संभवतः इसीलिए शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा, "नाविल भर में चेतन पर जो इस बेदर्दी से प्रहार हुए हैं, वे निम्न-मध्यवर्ग के खोखलेपन को, उसके खाली-पोलेपन को आख़िर में और भी मूर्त कर देते हैं।" (वही, पृ. 142) डॉ. धर्मवीर भारती ने भी इस उपन्यास के नायक के टुच्चे होने की बात कहते हुए, इसे अत्यंत स्वाभाविक स्वीकार किया है। उनका कहना है, "ऐसे पात्र समाज में हैं और ख़ूब हैं। इसलिए ऐसे पात्रों के चित्रण का ही विरोध करना और उससे चिढ़ना उसी हब्शी के समान हैं, जो दर्पण में अपना चेहरा देखकर चिढ़ जाता है। इसलिए जो इस टुच्चे नायक के चित्रण से चिढ़ते हैं, उनसे तो मैं क़तई सहमत नहीं।" (वही, पृ. 155)

दरअसल इस उपन्यास का नायक 'नायक' के प्रचलित मानदंडों के अनुरूप नहीं है और न ही उसे उस रूप में बुना गया है। आम ज़िन्दगी से जुड़ा होने पर भी उस युग के उपन्यासों में नायक को गरिमा ज़रूर प्रदान की जाती थी। नायक के दुर्गुण भी उसके गुणों को रेखांकित करने के लिए दिखाए जाते थे। लेकिन *गिरती दीवारें* का यह तथाकथित नायक अपने तमाम गुणों और दुर्गुणों के साथ प्रस्तुत हुआ है। "मैंने उसे निम्न-मध्यवर्गीय युवक की तमाम ख़ूबियाँ-खामियाँ दी हैं।" (*आमने सामने,* पृ. 33) दरअसल चेतन को लेखक ने 'एंटी हीरो' के रूप में रखा है। संभवतः हिन्दी का वह

पहला 'एंटी हीरो' है। बकौल अश्क, "निम्न-मध्यवर्ग के जिस युवक को मैंने अपने आप, बिना किसी समीक्षक की किसी रचना को पढ़े और 'एंटी हीरो' का शब्द सुने, आज से पैंतीस साल पहले चेतन के नाम से नायक के रूप में रखा, वह 'एंटी हीरो' ही था।" (*साक्षात्कार और विचार* भाग 3, पृ. 134) संभवतः इसलिए भारती उसे टुच्चा नायक कहते हैं, नलिन विलोचन शर्मा ने रूप रीढ़-रहित, ढुलमुल-यक़ीन, कमज़ोर और अत्यंत साधारण मनुष्य माना है। 'एंटी हीरो' की यही नियति है। चेतन के नायकत्व को समझने के लिए इन बातों पर दृष्टि रखना आवश्यक है। शमशेर बहादुर सिंह का कहना है "चेतन असल में *गिरती दीवारें* का हीरो नहीं है। इसका असली हीरो एक-के-पीछे एक लगा हुआ कड़ियों का यह सिलसिला है, जिनके बग़ैर चेतन महज़ हवा में हाथ-पाँव मारनेवाली एक छाया की तरह रह जाता है।" (*उपन्यासकार अश्क,* पृ. 134) स्वयं अश्क ने कहा है, "मैंने चेतन को नायक के रूप में नहीं लिया, मैंने उसे एक फ़लक के रूप में लिया है, चेतन एक पर्दा है जिस पर कि मैंने सारे निम्न-मध्यवर्गीय समाज का चित्रण कर दिया है। पर चूँकि मैंने उस पर्दे के माध्यम से वह सब किया तो वह पर्दा, उसका एक-एक रेशा समाज के एक-एक रेशे के साथ जुड़ा हुआ है।" (*साक्षात्कार और विचार* 3, पृ. 135)

इस उपन्यास को पहला खुले अंत वाला उपन्यास भी कहा गया है। केवल यही नहीं *गिरती दीवारें* उपन्यास-माला के सभी खंड खुले अंत वाले हैं क्योंकि वे एक वृहद उपन्यास के अविभाज्य खंड हैं। अंतिम खंड ही संपूर्ण उपन्यास के अंत के बारे में अंतिम निर्णय दे सकता है। दुर्भाग्यवश वह अधूरा ही रह गया है—सो एक दृष्टि से यह उपन्यास अभी तक खुले अंत वाला ही है।

इस उपन्यास के नायक और घटनाओं के बारे में प्रायः यह कहा जाता रहा है कि इसका नायक और घटनाएँ अश्क जी के अपने जीवन से संबंधित हैं। इसका प्रतिवाद करते हुए अश्क जी ने लिखा है, "गिरती दीवारें मेरी जीवनी नहीं हैं, इसी तरह चेतन भी मैं नहीं हूँ, लेकिन यह भी सही है कि मैंने अपने जीवन की प्रमुख घटनाएँ, अनुभूतियाँ और परिवेश उसे दिया है। चेतन को अपना व्यक्तित्व नहीं, केवल अपनी भाव-प्रवणता अथवा सादालौही मैंने दी है और फिर उसे स्वतंत्र रूप से विकसित होने दिया है। चेतन के जीवन की कई छोटी-छोटी, लेकिन महत्त्वपूर्ण घटनाएँ मैंने अपने परिचित युवकों के जीवन से ली हैं। चेतन वह बहुत कुछ करता है, जो मैंने कभी नहीं किया, या वह बहुत कुछ नहीं करता, जो मैंने किया है।" (*आमने सामने,* पृ. 33) रमेश शौनक ने इस संदर्भ में बिल्कुल ठीक कहा है कि चेतन के साथ अश्क का तादात्मीकरण नहीं हो सकता क्योंकि उसके अंदर दूसरी चीज़ों के अलावा अश्क के व्यक्तित्व की तीन प्रमुख विशेषताएँ नहीं हैं—अश्क की स्पष्टवादिता, अश्क की सहज विनोदप्रियता और अश्क के तीखे, काटते हुए व्यंग्य की क्षमता। शौनक इसे अर्ध जीवनी भी नहीं मानते क्योंकि यह उपन्यास उस विधा के रूप में योगदान नहीं करता। वे इसे एक व्यक्तिगत उपन्यास

मानते हैं। अश्क जी ने इसे स्वीकार किया है। (*देखें गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि*, पृ. 140)

इस उपन्यास में जालंधर के कल्लोवानी और लाहौर के चंगड़ मुहल्ले और शिमले के रूल्दू भट्टे को आधार बनाकर निम्न-मध्यवर्गीय ज़िन्दगी की कटु वास्तविकता को काफ़ी प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया गया है। शमशेर बहादुर सिंह के शब्दों में, *गिरती दीवारें* एक बड़ा कैनवस है जिसमें "हर उस घटना, दुर्घटना, आशा, आकांक्षा, सफलता, असफलता, प्यार और चोट का, उनकी ऊहापोह का उपन्यास है जो निचले मध्यवर्गीय जीवन का ताना-बाना कसते और ढीला करते हैं—या बुनते हैं। हर गली-कूचे और मकान ड्योढ़ी के परिचय, और घर-बाहर के अपने-पराए के संबंध से एक सस्ते ओछेपन की बू आती है, ज़िन्दगी के हर मोड़ पर सीलन की-सी ठहरी हुई ग़लीज़ बेशर्म बू! हर चीज़, हर बात के अंदर एक हाय-हाय भरी बेकार-सी जी-तोड़ और जान-मार कोशिश...... जिसका नतीजा आख़िर मे एक दीन, विपन्न, दयनीय रूप से मुस्कराती हुई हार, लाचारी और समझौता। बस यही रंग है हर तरफ़ इस निचली-मध्यवर्गीय दुनिया का।" (*उपन्यासकार अश्क*, पृ. 139)

दरअसल *गिरती दीवारें* निम्न-मध्यवर्ग को उसकी तमाम ग़लाज़त और कुरूपता के साथ अभिव्यक्त करने के लिए सूक्ष्मदर्शी यंत्र की भाँति उसे बड़ा करके प्रस्तुत करता है ताकि उसका कोई कोना-क़तरा छुपा न रह जाए। इसी को शमशेर बहादुर सिंह ने 'क्लोजअप' कहा है। इस ग़लाज़त और कुरूपता से भरे, बदबू, सीलन और घुटन से भरे वातावरण में चेतन जैसा सरल, भोला, रोमानी और भावुक युवक अपने ख़्वाबों के एक-एक कर टूटने के बावजूद कैसे जीवन के यथार्थ से टकराता, बहता आगे बढ़ता है, इसका सच्चा और ईमानदारी पूर्ण अंकन इस उपन्यास में अश्क जी ने करने का प्रयत्न किया है। डॉ. यश गुलाटी को शायद इसलिए यह लिखना पड़ा, "निश्चय ही मुहल्लों के ज़मीनी और सामाजिक भूगोल के चित्रण में अश्क जी को अद्‌भुत सफलता मिली है। टूटे-फूटे, बोसीदा, खंडहरों जैसे मकानों की गंदगी और सड़ाँध, तंग गलियों की नालियों से उठने वाली दुर्गन्ध, वहाँ पर बाँधी हुई भैंसों की पूँछों से उछलती हुई चड़, धूल-धक्कड़ और गर्दो-गुबार के साथ-साथ निवासियों के अंतर्संबंधों; आपसी तनावों और संघर्षों का छोटे-छोटे कारणों को लेकर लड़ते-झगड़ते स्त्री-पुरुषों का जैसा सजीव चित्रण इस उपन्यास में हुआ है, वैसा कम ही दिखाई देता है।" (*प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास*, पृ. 100)

चूँकि यह उपन्यास वृहद उपन्यास-माला का पहला खंड है इसलिए इसमें वे सब कुछ नहीं हो सकता जिसकी आलोचक अपेक्षा रखते हैं। स्वयं अश्क जी ने इसे 'इंट्रोडक्टरी' भाग कहा है। इस तथ्य को न समझने के कारण *गिरती दीवारें* के अनेक अर्थ लगाए गए जबकि उपन्यास के अंत में दीवारों का संकेत तो है—गिरने का नहीं। ये दीवारें गिरेंगी तो अवश्य मगर अलग-अलग खंडों में। डॉ. यश गुलाटी ने इस उपन्यास की आलोचना इस बात को लेकर की कि इसमें वर्णित प्राकृतिक-अप्राकृतिक यौन तृप्ति

का वर्णन कुछ इस परिमाण में हुआ है कि लगता है जैसे यही "इस वर्ग के लोगों का एकमात्र शगल है" जबकि स्वयं अश्क ने इस खंड के बारे में कहा है, "मैंने *गिरती दीवारें* में मुख्यतः प्रेम और काम की समस्या को लिया है।" ऐसे में इस वर्ग के इसी पक्ष का चित्रण आवश्यक था। चेतन में हर स्त्री के पीछे भागने को लेकर भी आलोचक को दिक़्क़त है। दरअसल यही बात लेखक दिखाना चाहता है कि चेतन वैसा गढ़ा-गढ़ाया नायक नहीं है जैसा हमें उपन्यासों में देखने को मिलता है। वह बनने की प्रक्रिया में है। इसलिए वह जैसा है, लेखक उसी रूप में उसे रखना चाहता है। इस उपन्यास के उबाऊ और उकताहट से भरे होने का आरोप भी लगाया गया है। इस संदर्भ में अश्क जी का कथन भर उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा, "मेरा उपन्यास ज़िन्दगी जैसा ही बिखरा रहे; ज़िन्दगी जैसा ही चले और अपने अनुभूत सत्य के अलावा मैं उसमें कुछ न दूँ, यह मैंने तभी तय कर लिया था, जब आज से तीस वर्ष पहले उपन्यास लिखना शुरू किया था। मैं मानता हूँ कि फ़ार्मूलाबद्ध उपन्यासों के अभ्यासी हिन्दी पाठकों और आलोचकों के लिए मेरे उपन्यासों को समझ अथवा पसंद कर पाना सरल नहीं है। मैं उन्हें दोष नहीं देता। हर विद्रोही को मिडयाक्रिटी के ऐसे आक्रमण का शिकार होना पड़ा है। मैं गत तीस वर्ष से इसे झेलता आ रहा हूँ और मुझे इसमें संतोष ही मिला है।" (*आमने सामने*, पृ. 36-37)

शहर में घूमता आईना इस उपन्यास-माला का दूसरा खंड है। इस उपन्यास की भी पर्याप्त चर्चा हुई है। इस उपन्यास को लिखने के लिए अश्क जी को दस वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ी क्योंकि इसका पैटर्न उनको नहीं मिल रहा था। ये पैटर्न उन्हें शंकर के *कितने अनजाने* से प्राप्त हुआ और शीर्षक स्टैण्डहल के उपन्यास से। कथातत्व की दृष्टि से इसकी कथा मात्र इतनी है कि चेतन नीला की शादी एक अधेड़, कुरूप व्यक्ति से हो जाने की त्रासदी का मूल कारण स्वयं को समझता है। वह अपराध बोध से भरा है और अपने आपको इस भावना से मुक्त करने के लिए शहर जालंधर में घूमने निकल जाता है, अनेक व्यक्तियों से प्रत्यक्ष एवं स्मृतियों के माध्यम से साक्षात्कार करता है और शाम को लौट आता है। घर से निकलने और लौट आने के बीच की यात्रा ही उपन्यास का मूलाधार है। चेतन नीला की शादी का कारण अपनी मूर्खता, कायरता, बचपना और ढुलमुलता को मानता है। यही मुख्यतः निम्न-मध्यवर्ग का चरित्र है और इसी का प्रस्तुतीकरण इस उपन्यास का मुख्य लक्ष्य है। इस उपन्यास में आए अनेक पात्रों के माध्यम से लेखक निम्न-मध्यवर्ग के टुच्चेपन, मूर्खता, ढुलमुलता, कायरता को प्रकट करना चाहता है। चेतन की अपनी उदासी एक माध्यम बन गई है। इस उपन्यास में निम्न-मध्यवर्ग के प्रत्येक तबक़े का यथार्थ एवं जीवंत चित्रण हुआ है। यद्यपि उपन्यास के सभी पात्रों का एक दूसरे से कोई संबंध नहीं है, मगर वे चेतन के माध्यम से एक दूसरे

से जुड़े हुए हैं। संभवतः इसीलिए इस उपन्यास पर प्रहार हुए हैं क्योंकि इस उपन्यास का ढाँचा अत्यंत लचीला है।

इस उपन्यास को 'सुबह', 'दोपहर', 'शाम' तीन हिस्सों में बाँटा गया है। 'सुबह' चेतन अपने मित्र 'अनंत' से मिलने के बाद बाज़ार को निकलता है और बद्दा, रामदित्ते, पंडित गुरदासराम, हकीम दीनानाथ, चाचा दालचंद निश्तर, हमीद, हुनर साहब, रुद्रसेन, हरसरन से मिलता है। इनमें से गुरदास राम, फल्गूराम को अपनी यादों के द्वारा परोक्ष रूप से मिलता है। 'दोपहर' में चेतन बिल्ला, जगना और देबू तथा जालंधरी मल 'योगी' से मिलता है। 'शाम' को उसे अपने पुराने सहपाठी लाल से फिर लाला गोबिन्दराम, हरदर्शन, लाला अमरनाथ से मिलवा कर और उसके मुहल्ले की एक ताज़ा घटना का उल्लेख करके तथा चेतन का चंदा के आगे अपना अपराध क़बूल करवाकर लेखक ने उपन्यास को समाप्त कर दिया है। स्पष्टतः इस उपन्यास में पात्रों की भीड़ है। ये सभी पात्र निम्न-मध्यवर्ग के जीवन की संकीर्णता, अकिंचनता, हेयता और टुच्चेपन को प्रकट करते हैं। चेतन इन लोगों का जीवन देखकर दुःखी है। उपन्यास के कुछ पात्र चेतन के अंदर हीनता भरते हैं तो कुछ उसमें उत्साह का संचार करते हैं। *गिरती दीवारें* यदि एक परिवार का प्रकारांतर से निम्न-मध्यवर्ग का 'क्लोजअप' है तो यह उपन्यास इस वर्ग के पात्रों का 'क्लोजअप' है। छोटी-से-छोटी बात, पात्रों की शक्ल-सूरत तक का ब्यौरा लेखक ने विस्तार से दिया है। "जिस प्रकार आईना निष्पक्ष भाव से बिना किसी प्रकार के परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन के सामने पड़नेवाले चित्रों को प्रतिबिम्बित कर देता है जिसे सभी आँख वाले देख सकते हैं, उसी प्रकार लेखक ने तटस्थ भाव से सामने पड़ने वाले सामाजिक चित्रों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है।" (त्रिभुवन सिंह)

इस संदर्भ में अश्क जी का कहना है, "शहर को जिस आईने के माध्यम से देखा गया है वह एक विशेष मनःस्थिति में उपन्यास के नायक का मन है। लेकिन उस नायक का अंतर्द्वंद्व जिस आईने में प्रतिबिम्बित होता है, वह उपन्यास में वर्णित परिवेश याने शहर और उसके निम्न-मध्यवर्गीय वासी है। वह सारा परिवेश भी चेतन को अंदर-बाहर से दिखा देने वाला आईना ही है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि चेतन ही आईना नहीं, जो शहर को प्रतिबिम्बित करता हुआ उसमें घूम रहा है, शहर भी आईना है, जिसमें चेतन का अंदर-बाहर प्रतिबिम्बित होता है।" (*आमने सामने*, पृ. 14)

इस उपन्यास में लेखक ने "असफल काम के फलक पर अर्थ और अहं की क्षुधा" (वही, पृ. 15) की समस्या को मुख्य रूप से उठाया है। लेकिन बात इतनी भर नहीं है। अश्क जी की दृष्टि में, "मैंने जिस तरह *गिरती दीवारें* में चेतन के परिवार का विस्तार से चित्रण किया था, उसी तरह मैं दूसरे खंड में उसके शहर का अथवा शहर के उस खंड का, जिसके साथ उसका संबंध रहा है, विशद चित्रण करना चाहता था और प्रसंगवश उसमें वे नन्ही-नन्ही घटनाएँ और चरित्र बुन देना चाहता था, जिनका नायक के चरित्र-निर्माण के साथ गहरा संबंध है। चेतन जो है, अपने माता-पिता परिवार, मुहल्ले

और शहर की पैदावार है और उसे समझने के लिए उस सारे परिवेश को समझना मेरे ख़्याल से ज़रूरी है।" (*आमने सामने*, पृ. 13-14) इस उपन्यास के सृजन के पीछे की मूल प्रेरणा यही है। लेखक का कहना यह भी है कि *शहर में घूमता आईना* आज से तीस-बत्तीस वर्ष पहले के जीवन पर लिखा गया है, पर वह आज के जीवन को समझने का भी आईना है। आज के जीवन में न हरदर्शन जैसे सेठों की कमी है, न 'हुनर' साहब जैसे थोड़े यश और धन से संतुष्ट हो जाने वाले कैरियरिस्ट कवियों की। ज़रा अपने गिर्द नज़र उठाकर देखिए। हमारे आज के निम्न-मध्यवर्गीय मुहल्लों में शहर में घूमता आईना के सारे-के-सारे पात्र दिखाई दे जाएँगे।" (वही, पृ. 22)

इस उपन्यास के शिल्प को लेकर भी विवाद रहा है। त्रिभुवन सिंह का कहना है, "शिल्प की दृष्टि से अश्क जी का यह उपन्यास एक नया प्रयोग कहा जा सकता है।" *आलोचना* में भी इसे नया मगर सफल प्रयोग स्वीकार किया गया। रवीन्द्रनाथ त्यागी इसे हिन्दी में अपनी तरह का पहला उपन्यास मानते हैं। रमेश शौनक ने तो इस उपन्यास को 'अंश और समग्र-अणु और ब्रह्मांड--के बीच संवंधों को परिभाषित करने का एक प्रयत्न" माना है, जबकि डॉ. बच्चन सिंह इसमें संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, स्मृतियों, अंतःस्मृतियों का अंतर्भाव मानते हैं जो इसे अनोखा रूप देता है। *लीडर* पत्रिका (इलाहाबाद) ने इसे हिन्दी कथा साहित्य में एक नया आयाम स्वीकार किया। उल्लेखनीय है कि *द सैन्चुरी* (दिल्ली), *लिंक* (दिल्ली) पत्रिकाओं तथा जगदीशचंद्र माथुर ने इस उपन्यास के साथ *जेम्स ज्वायस* के *यूलिसिस* उपन्यास को स्मरण करते हुए दोनों में समान तत्व खोजे हैं जबकि लेखक का कहना है कि उसने यह उपन्यास नहीं पढ़ा।

इसमें संदेह नहीं कि *गिरती दीवारें* की भाँति ही यह उपन्यास भी अपने नवीन शिल्प और कथा के अत्यंत संक्षिप्त होने के कारण, बहुतायत में छपने वाले उपन्यासों से अलग-थलग पड़ने की वजह से लोगों के चौंकने का कारण बना। अश्क ने इन दोनों उपन्यासों में अपने ढंग से उपन्यास के बने-बनाए ढाँचे को तोड़ा है। ऐसे में इस उपन्यास की आलोचना स्वाभाविक है। यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि श्रीमती विजय चौहान इसमें आंचलिक उपन्यासों की भाँति स्थानीय रंग अपने पूरे चटकीलेपन के साथ उभरा पाती हैं तो सुप्रसिद्ध उपन्यासकार निर्मल वर्मा भी इसे यूँ वर्णित करते हैं, "इस उपन्यास का एक गुण है इसकी आंचलिकता, जिसमें पंजाबी वातावरण, भीड़-भाड़, रौनक, जीवंतता, विशेष प्रकार की प्रवृत्तियाँ—सभी कुछ बड़े सजीव से लगते हैं...।"

एक नन्हीं किन्दील : गिरती दीवारें उपन्यास-माला का यह तीसरा खंड है। अश्क जी का अपना कहना यह है कि संपूर्ण उपन्यास-माला में यही वो उपन्यास है जिसमें इस उपन्यास-माला की मूल प्रेरणा निहित है। "क्योंकि इसी में वह मूल घटना है, जो चेतन

की ज़िन्दगी की धारा को मोड़ती है। उसके माध्यम से आगे चलकर वह जीवन और मृत्यु और नियति से साक्षात्कार करता है ज़िन्दगी की व्यर्थता और उस व्यर्थता के बावजूद ज़िन्दा रहने के अर्थ पाता है। इसलिए पहले दो खंडों से मैं इसे महत्त्वपूर्ण मानता हूँ।" (*आमने सामने*, पृ. 35)

इस उपन्यास में विभाजन पूर्व के लाहौर का यथार्थ चित्रण करते हुए, कथा नायक चेतन के संघर्ष, कशमकश को उद्घाटित किया गया है। जिस प्रकार *गिरती दीवारें* और *शहर में घूमता आईना* में जालंधर सजीव हो उठता है, उसी प्रकार इस उपन्यास में लाहौर जीवंत हो उठा है। उस समय के लाहौर का साहित्यिक वातावरण और उर्दू पत्रकारिता की ख़ूबियाँ, खामियाँ, वहाँ पत्रकारिता से जुड़े लोगों के स्तर, उनकी ऊब, आदि का सविस्तार वर्णन इस उपन्यास में हुआ है। इसके साथ चेतन के संघर्षों, सपनों, इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं, अंतर्द्वंद्वों और उलझनों का भी यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में हुआ है।

इस उपन्यास में अर्थ, काम और अहं इन तीन मुख्य संचालक शक्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण अहं को आधार बनाया गया है। अश्क जी का कहना है कि इस उपन्यास में उन्होंने "यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि अहं पर हल्की-सी ठेस किस तरह आदमी की जीवन-धारा को बदल देती है। अपने अहं का मारा आदमी कैसे उत्तर को जाता हुआ दक्खिन को चल देता है और यह भी कि अहं हर व्यक्ति के अंदर है। ठस से ठस और अपढ़ से अपढ़ व्यक्ति के अंदर भी है। इसके कितने ही रूप मैंने इस तीसरे खंड में उकेरे हैं।" (*आमने सामने*, पृ. 15) यह सब होते हुए भी अश्क जी ने पहले दोनों उपन्यासों की भाँति इसमें अपनी टेक नहीं छोड़ी। प्रकाशचंद्र गुप्त के शब्दों में, "चेतन की ज़िन्दगी में बहुत थोड़ा ऐसा है, जिसे हम असामान्य या असाधारण कह सकें। यह उपन्यास एक औसत हिन्दुस्तानी की अंतरंग ज़िन्दगी का महाकाव्य है।"

इस उपन्यास तक आते-आते चेतन के स्वभाव में परिवर्तन होता है। *गिरती दीवारें* का चेतन, सरल, भोला, रोमानी और भावुक है, लेकिन *एक नन्हीं किन्दील* का चेतन *ऐन मैन* वैसा नहीं है। "अपने तमाम भोलेपन के बावजूद वह काफ़ी चंट हो गया है।" (*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि*, पृ. 114) चेतन में इस परिवर्तन के कारणों का सविस्तार वर्णन अश्क जी ने अपनी पुस्तक *गिरती दीवारें : दृष्टि-प्रतिदृष्टि* में किया है। इस उपन्यास में चेतन का धीरे-धीरे अपनी पत्नी के प्रति प्रेम-भाव का प्रादुर्भाव भी बड़ी सूक्ष्मता से व्यक्त हुआ है।

इस उपन्यास के बारे में श्री राम विद्यार्थी ने ठीक ही लिखा है, "किन्दील जन सामान्य के स्व का संघर्ष-सृष्टि के पटल पर अपने 'स्व' को मान्यता दिलवाने, उसे एक एंटिटी के रूप में स्थापित करने की, जन सामान्य की चेष्टाओं का संवेदनशील चित्रण है। प्रेरक भी और मोहक भी। क्योंकि यह सारी कृति, आईनों की मीनाकारी से तैयार किया गया एक ऐसा गुंबद लगती है, जिसके आईनों के भटकते हुए बिम्ब, हम सबके

अपने ही बिखरे हुए बिम्ब हैं, छितरी हुई संज्ञाएँ हैं। हम सब इनमें से कुछ को चुनकर अपनी मनमानी तस्वीर खड़ी कर सकते हैं और अपने आपको महत्त्वपूर्ण महसूस कर सकते हैं—क्योंकि हम इन टुकड़ों को पढ़कर महसूस करते हैं कि जो कुछ हम रोज़ाना भोगते हैं, उसके कुछ अर्थ होते हैं।" निस्संदेह यह एक प्रौढ़ रचना है और यह भी ठीक है कि 780 पृष्ठ के वृहदाकार उपन्यास में पाठक को बाँधे रखना अश्क जी के ही बस की बात है। *संचेतना* में ठीक ही लिखा गया है, "जीवनोपम, सप्राण तथा अविस्मरणीय चरित्रों का निर्माण अश्क की अपनी विशेषता है। उनके उपन्यासों में प्रमुख, गौण तथा भर्ती के असंख्य पात्रों का जमघट रहता है, किन्तु यह अश्क की कला का कमाल है कि उनका प्रत्येक चरित्र अपना पृथक व्यक्तित्व लिए हुए होता है, जिससे वह पाठक की कल्पना से सजीव हो उठता है और भुलाए नहीं भूलता...भारतीय नगरों के मध्यवर्ग के इतने विभिन्न प्रकार के पात्र और किसी लेखक ने कदाचित् ही अंकित किए हों। यह कार्य वही लेखक संपन्न कर सकता है, जो अपने परिवेश और उसके जीवन तथा पात्रों में रस लेता हो और उसकी सब बुराइयों और दुर्वलताओं के बावजूद उन्हें प्यार करता हो, जो उनके हाथों प्रवंचनाएँ झेलकर चाहे आत्मतोष के लिए उन पर फिकरे कसता और उनका मज़ाक़ उड़ाता हो, पर जो भी भीतर-ही-भीतर कहीं उनकी मानवीयता को भी पहचानता हो और उनसे सहानुभूति रखता हो।"

इस उपन्यास में *गिरती दीवारें, शहर में घूमता आईना* की भाँति पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग तो है ही, साथ ही पहली बार डायरी शैली का बड़ा ही सुंदर प्रयोग करके इस वृहदाकार उपन्यास की रोचकता और गति को लेखक ने बनाए रखा है। यह बात भी यहाँ उल्लेखनीय है कि इस उपन्यास पर अश्लीलता का आरोप भी लगाया गया था।

बाँधो न नाव इस ठाँव (1974) बारह सौ पृष्ठों में फैला, दो भागों में विभक्त इस उपन्यास-माला का अगला पड़ाव है। पहला भाग 'तकलीफ़ और तनाव' है तथा दूसरा भाग 'और वापसी'। परिवेश *एक नन्ही किन्दील* का लाहौर और वहाँ के लोग। पहले भाग में चेतन की 'तकलीफ़' और 'तनाव' का स्पष्ट अंकन हुआ है। अपनी तमाम चंटई के बावजूद चेतन न अमानवीय है, न भावनाशून्य। लोगों को पहचानने या मूर्ख बनाने की कला भले ही उसने सीख ली हो, मगर अपने अंदर के भाव-प्रवण और संवेदनशील युवक को वो झुठला नहीं पाता और कष्ट पाता है।

पहले भाग में चेतन का संघर्ष, उसकी निर्धनता और उसमें हार न मानने के यथार्थ को अंकित करते हुए अश्क जी ने हमेशा की तरह चेतन के इर्द-गिर्द सड़क पर स्टॉल लगाने वाले नीलामकारों से लेकर भव्य सभागारों में व्यवस्थित ज़िन्दगी जीनेवाले उच्चवर्गीय साहित्यकारों और शायरों के रूप में पात्रों का अंबार लगा दिया है। इन पात्रों का चित्रण भी अश्क ने पूरी ईमानदारी और सधे हाथों से किया है। इन पात्रों की

वास्तविकता को उधेड़ने के साथ-साथ चेतन की तकलीफ़ और 'सोसाइटी' बनाने के संपूर्ण घटनाक्रम के माध्यम से वर्तमान समाज में बनती-बिगड़ती संस्थाओं का चित्रण अश्क जी ने पूरी संलग्नता और तल्लीनता से किया है। जीवन की व्यर्थता को भी इस रूपक के माध्यम से समझा जा सकता है। जीवनलाल, कविराज रामदास, कवि चातक, आकाश लाल खन्ना, धर्मदेव वेदालंकार, पंडित रत्न, चुन्नी भाई, सरदार जगदीश सिंह, लाला हरकिशनलाल, राजा महेन्द्रनाथ, बशर अहमद आदि ऐसे पात्र हैं जिनसे चेतन का प्रत्यक्ष वास्ता पड़ता है और वह इनके हाथों कड़वे-मीठे अनुभव प्राप्त करने को बाध्य होता है। लिटरेरी सोसाइटी का जो हश्र होता है, वह आजकल की अनेक बनती-बिगड़ती संस्थाओं में देखा जा सकता है। अश्क के उपन्यास का यह पहला भाग चेतन की संघर्ष गाथा को बड़े रोचक ढंग से कहता है।

पहला भाग अगर खलबलाता हुआ जीवन नद है तो यह दूसरा भाग '....तथा वापसी' एक छोटी-सी झील है, जिसके एक छोर से दाखिल होकर कथाधारा, दूसरे छोर से फिर अपनी अटूट गति ग्रहण कर लेती है। देखने में इस भाग में वर्णित एक उच्च मध्यवर्गीय अफ़सर की रूप-गर्विता, उद्दंड लड़की तथा चेतन की प्रणय-गाथा मात्र लगती है। लेकिन केवल यह प्रणय-कथा कहना लेखक का उद्देश्य नहीं है। पहले भाग में जहाँ लेखक ने चेतन के बाहरी परिवेश और संघर्ष का वर्णन किया है तो दूसरे भाग में चेतन के भीतरी संसार में झाँकने और उसके द्वारा अपने अंदर बहती पारदर्शी स्रोतस्विनी को पहचानने और उस ओर पलटने की कथा है, जिसे इस 'प्रणय-गाथा' के माध्यम से ही प्रस्तुत किया जा सकता था। इस खंड में लेखक ने 'सेक्स और प्रेम' की समस्या को लिया है। चेतन उस रूप-गर्विता के आकर्षण से बचने का प्रयत्न करके भी बच नहीं पाता लेकिन वह निकल पाता है उसके बाहर तो केवल अपनी उसी पत्नी के कारण जिसे वह पहले पसंद नहीं करता लेकिन धीरे-धीरे उसके गुण चेतन के मन में उसके लिए प्यार पैदा कर देते हैं। अश्क जी ने इसको यूँ वर्णित किया है, "*बाँधो न नाव इस ठाँव* में हम पाते हैं कि दूर रहकर भी वह उसके मन को बाँधे रखती है। *बाँधो न नाव इस ठाँव* में चेतन एक ट्यूशन लेकर शिमला जाता है। वहाँ उसकी एक अत्यंत सुंदर और उदमाती छात्रा उसके निकट संपर्क में आती है, तब चेतन चाहने पर भी उसकी ओर उन्मुख नहीं हो पाता—वही उसकी सरल, भोली-भाली, प्रकट फूहड़ और अपेक्षाकृत असुंदर पत्नी दोनों के बीच एक दीवार बन जाती है। चौथे खंड की यही महत्ता है कि वह सौन्दर्य के प्रति आकर्षण (जिसे प्रायः प्रेम का नाम दिया जाता है, पर जो वास्तव में केवल शारीरिक भूख अथवा यौन भाव ही होता है) और साथी के आंतरिक गुणों के कारण मन में उपजने और मिट न पानेवाली अमूर्त भावना में (जिसे मैं प्रेम का नाम देता हूँ) एक विभाजन रेखा खींचता है।" (*आमने सामने*, पृ. 45) यही बात इस उपन्यास का मूल उद्देश्य है, इसी बात को रेखांकित करने के लिए लेखक ने इस कथा को बुना है। प्रसंगवश *एक रात का नरक* इसी भाग का हिस्सा है जिसे अश्क जी ने पहले उपन्यास के रूप में लिखा था।

इस उपन्यास के अंत तक आते-आते चेतन पुनः अपनी मूल प्रवृत्ति की ओर लौटता दिखाई पड़ता है। इस उपन्यास में एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व का समावेश हुआ है जिसका ज़िक्र इन पंक्तियों के लेखक ने *आलोचना* में किया था। ये तो ठीक है कि *गिरती दीवारें* से ही अश्क जी धार्मिक पाखंडियों पर प्रहार करते आ रहे हैं लेकिन उनके अपने इस विषय में विचारों का स्पष्ट उद्‌घाटन इसी उपन्यास में हुआ है।

इनका यहाँ उल्लेख इसलिए भी आवश्यक है कि *स्वर्ग एक तलघर है* जैसे खंड-काव्य की बुनियाद यहीं पर है। अश्क जी ने चेतन को अनुभवों से पकते भी दिखाया है और यूँ उसके माध्यम से जीवन-संघर्ष, धर्म, अध्यात्म एवं प्रेम और सेक्स के बारे में अपने विचारों को भी प्रकट किया है।

इस उपन्यास का शिल्प स्मृति शिल्प है जो स्थितियों और चरित्रों को उनकी समग्रता में पकड़ता है। इस उपन्यास में न तो चेतन पहले भाग में बन रहे मार्ग से बँधता है और न दूसरे भाग की चंद्रा से। इस दृष्टि से उपन्यास का यह नाम अत्यंत सार्थक एवं सांकेतिक है।

पलटती धारा यदि *बाँधो न नाव इस ठाँव* के दोनों भागों को एक मान लिया जाए तो यह इस उपन्यास-माला का पाँचवा अन्यथा छठा खंड है। इसमें अश्क जी ने नायक चेतन की कहानी को एक क़दम और आगे बढ़ाया है। चेतन इस खंड में एक ऐसे मोड़ पर आ खड़ा होता है कि उसके सामने दो विकल्प हैं—लेखक बने या क़ानून की परीक्षा पास करके सब जजी की प्रतियोगिता में बैठे। हालाँकि चेतन दूसरा रास्ता चुनता है और हम उसे क़ानून और क़ानून की पढ़ाई की पेचीदगियों में डूबते-उतराते पाते हैं। लेकिन चूँकि उसका आर्थिक संघर्ष जारी है इसलिए वो कभी ट्यूशन पढ़ाता है और कभी अपना ख़र्च चलाने के लिए साप्ताहिक पत्रों में कहानियाँ लिखता है। इसी के साथ हम उसे लाहौर के साहित्यिक समाज में विचरते देखते हैं। पारिवारिक स्तर पर चेतन अपनी पत्नी की बीमारी और उसके माध्यम से अपने परिवार के कुछ दबे-ढके पहलुओं से भी रूबरू होता है जिनसे उसे अपने माता-पिता को नए कोण से देखने-परखने की अंतर्दृष्टि मिलती है। इन्हीं घटनाओं में अपनी साली नीला के प्रति चेतन के आकर्षण की अंतर्कथा भी गुँथी हुई है और धर्म तथा अध्यात्म को लेकर चेतन की ऊहापोह भी।

उपन्यास का शिल्प वही है जो *गिरती दीवारें* को हिन्दी उपन्यास की परंपरा में अद्वितीय बनाता है। कहावतों, लोकोक्तियों, गीतों, कथाओं, अंतर्कथाओं और अनेक प्रकार के संदर्भों को अपने में समोए यह उपन्यास अपने शिल्प में भारतीय परंपरा के विशिष्ट महाकाव्य *महाभारत* के शिल्प के नज़दीक पड़ता है जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य के डोडे मिले होते हैं। भले ही *पलटती धारा* अपने आप में पूर्ण हो मगर इसे 'इति नियति' के साथ जोड़ कर पढ़ना अधिक उपयोगी होगा क्योंकि दोनों उपन्यास मिल कर अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हैं।

इति नियति : गिरती दीवारें के इस अंतिम खंड में अश्क जी का इरादा पिछले लगभग 4000 पृष्ठों की महागाथा को एक प्रमुख पड़ाव तक पहुँचाना था और जीवन की प्रचालन शक्तियों, पेट की भूख, प्रेम और सेक्स की भूख एवं अहं—को एक-एक कर परखते हुए मनुष्य के जीवन में नियति के महत्त्व को परखना था। लेकिन वे इस खंड को अपने जीवन में पूरा नहीं कर पाए। उपन्यास के लगभग 20 अध्याय बाक़ी थे जब उनका निधन हो गया। लेकिन इस अंतिम खंड के 350 पृष्ठों में अश्क जी चेतन की कहानी को धीरे-धीरे उस महत्त्वपूर्ण पहले पड़ाव पर ले जाते दिखाई पड़ते हैं जहाँ पहुँच कर वे उस उपन्यास को समाप्त करना चाहते थे।

यह पड़ाव क्या था? अश्क जी के साक्षात्कारों, पत्रों और अन्य स्रोतों से जो ख़ाका उभरता है वह बहुत कुछ उनके अपने जीवन में घटित प्रसंगों का प्रतिबिम्ब जान पड़ता है। चेतन की पत्नी की बीमारी बढ़ते-बढ़ते यक्ष्मा में परिणत हो जाती है। चेतन एक ओर अपनी पत्नी के इलाज, दूसरी ओर आर्थिक संघर्ष, तीसरी ओर क़ानून की पढ़ाई और चौथी ओर साहित्य-सृजन—इन चारों मोर्चों पर प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझता हुआ नज़र आता है।

इन्हीं अध्यायों में अश्क जी चेतन की पत्नी चंदा का तिल-तिल करके मृत्यु की ओर सरकना और चंदा के प्रति चेतन के घरवालों का निर्मम क्रूर व्यवहार भी चित्रित करना चाहते थे, जो अक़सर निम्न-मध्यवर्गीय तबक़े के लोगों का आम वतीरा है। अपने निधन से पहले अश्क जी ने अनलिखे अध्यायों की जो रूपरेखा बनाई थी—उसमें कांग्रेसी पत्र में चेतन के काम करने की अंतर्कथा भी शामिल की थी जिससे वे तत्कालीन राजनीति की भी हक़ीकतें उजागर करना चाहते थे। अंत के बारे में अश्क जी इतनी जगहों पर लिख चुके हैं कि उसकी पुनर्रचना कठिन नहीं है। एक ओर चेतन विशेष योग्यता से क़ानून की परीक्षा में उत्तीर्ण होता है तो दूसरी ओर उसकी पत्नी का देहांत हो जाता है। मनुष्य के जीवन और उसके उपक्रम को निरर्थक सिद्ध करने के लिए जैसे इतना ही काफ़ी न हो, नियति अपना एक और रूप प्रदर्शित करती है। उस लड़की का भी देहांत हो जाता है जिसका विवाह चेतन के मुहल्लेदार और सहपाठी से होना तय हुआ था और जिसके घर में चेतन की सास महाराजिन का काम करती थी। यानी वो कारण ही ख़त्म हो जाता है जिसने चेतन को क़ानून पढ़कर सब-जज बनने के लिए उकसाया था। यहीं अश्क जी नियति के प्रश्न, मनुष्य के जीवन और उसके उद्यम की निरर्थकता की पड़ताल करते हुए उन तत्त्वों को उजागर करना चाहते थे जो जीवन को सार्थक ओर जीने योग्य बनाते हैं। उनके मन में *महाभारत* का वो प्रसंग तो था ही जब युधिष्ठिर यक्ष के प्रश्न—किम् आश्चर्यम्—के उत्तर में कहते हैं कि संसार में हर रोज़ लोगों को मृत्यु के ग्रास में जाता देखकर भी मनुष्य जीवन जीने की जो कामना करता है, वही सबसे बड़ा आश्चर्य है। लेकिन अश्क जी इससे एक क़दम आगे बढ़ अपनी ओर से प्रश्न करना चाहते थे कि वो ऐसी कामना क्यों करता है? साथ ही वे अपने जीवनानुभवों के आधार

पर इसका एक संगत उत्तर भी चेतन के माध्यम से देना चाहते थे। वे चेतन की कहानी उस पड़ाव पर समाप्त करना चाहते थे जब अत्यंत निराशा के क्षणों में जीवन की निरर्थकता से रूबरू होकर चेतन इस फ़ैसले पर पहुँचता है कि वह पूरी तरह साहित्य को समर्पित होकर अपना जीवन सार्थक कर सकता है कि यही उसकी नियति है। और उसके माध्यम से वे यह संदेश भी देना चाहते थे कि हर मनुष्य अपने जीवन की सार्थकता, अपनी नियति को पहचान कर और अपने जीवन का निर्णायक बनाकर, ही प्राप्त कर सकता है।

यह ठीक है कि इस उपन्यास का नाम *इति नियति* है और यह शीर्षक नरेश मेहता का दिया हुआ है लेकिन बकौल अश्क, "वह उपन्यास की पूरी बात को या कहूँ कि मुख्य थीम को, संकेतित नहीं करता। नियति को मैं उपन्यास में ज़रूर डिस्कस करना चाहता हूँ और ऐसे चित्रित करना चाहता हूँ कि पाठक जान ले कि हाँ नियति यूँ कार्य-रत होती है, वह उसे स्पर्श कर सके, पर नियति उपन्यास के आधारभूत विचारों में महज़ एक है, मैं नियति को मानता हूँ, पर नियतिवादी नहीं हूँ।" (*विवादों के घेरे में*, पृ. 78) जीवन की निरर्थकता के बावजूद जीने की ललक और मृत्यु जैसे सत्य से साक्षात्कार इस उपन्यास का मूलाधार है। यह खंड सीधी-सादी शैली में रचित है जो इन गंभीर बातों को वहन करने में पूर्णतया सक्षम है।

संसार में अनेक उपन्यास ऐसे मिलते हैं जो पूरे नहीं हो पाए। यूँ भी *गिरती दीवारें* के सारे खंड जिस तरह के 'खुले अंत वाले, उपन्यास खंड हैं, उन्हें देखते हुए *गिरती दीवारें* की यह अपूर्णता एक गौण तत्त्व है। उपन्यास के पहले खंड की भूमिका में अश्क जी ने लिखा था कि वे ऐसा उपन्यास लिखना चाहते थे जो जीवन ही की तरह चले, बढ़े और फैले, पहले से तय-शुदा आरंभ या अंत उसका न हो। अंत तो व्यक्तियों का निश्चित है। जीवन तो अनवरत हिलोरें लेने वाले महासागर सा अक्षय है। इस नज़रिये से देखें तो *गिरती दीवारें* अपनी समग्रता में और अपनी अपूर्णता के साथ व्यक्ति-कथा की बजाए काल-कथा के रूप में सामने आता है। वह व्यक्ति-चित्र के बजाए उस युग का चित्र प्रस्तुत करता है। यही उसका महत्त्व है और यही उसकी सार्थकता।

संपूर्ण उपन्यास में अश्क जी क्या कहना चाहते हैं, इसका जवाब स्वयं अश्क जी ने अनेक स्थलों पर दिया है जिसे संक्षेपतः उन्हीं के शब्दों में यूँ व्यक्त किया जा सकता है, "मैंने ज़िन्दगी के विशाल अनुभव से पाया है कि हमारे जीवन का परिचालन पेट (अर्थ), काम और अहं—मुख्यतः तीन ही जज़्बे करते हैं। आदमी मृत्यु और नियति को जान कर निर्द्वंद्व होकर जी सकता है और उस घोर निरर्थकता से पार पा सकता है, जिसका नाम ज़िन्दगी है।" अश्क जी यह भी मानते हैं, "ज़िन्दगी की परिचालक-शक्तियों में अहं सबसे महत्त्वपूर्ण है। पेट कुत्ते, गधे और कौवे भी भर लेते हैं और अर्थ वेश्याओं के पास भी होता है, लेकिन आदमी को इन दोनों से ऊपर उठाने वाली शक्ति केवल अहं की

है।" (*साक्षात्कार और विचार*, पृ. 162) अपनी इस उपन्यास-माला में अश्क जी इसलिए तीसरे खंड को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

इन तीनों प्रचालन शक्तियों के साथ अश्क जी नियति नाम की शक्ति "कैसी है, कैसे कार्य करती है" इसे ऐसे उकेरना चाहते थे कि पाठक उसे छू सके। "फिर लंबी बीमारी, जो बड़े-से-बड़े प्यार को थका देती है, माँ की जैसी आत्मीया जिसके सामने साहस छोड़ देती है और मौत—भयानक, बीभत्स मौत—मैंने उसका भी साक्षात्कार किया है। चूँकि लंबी बीमारियाँ आज भी हैं और मौत आज भी है, इसलिए मैं उनका चित्रण भी करना चाहता हूँ। फिर ज़िन्दगी की अपार निरर्थकता और इस पर भी जीने की इच्छा और कारण—ये तमाम बातें हैं।" (*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि*, पृ. 143) इन बातों के साथ अश्क जी ने प्रेम और सेक्स के अंतर को भी बड़ी सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया है।

अश्क जी ने अन्यत्र कहा है, "इन अपेक्षाकृत ऊपरी स्तर पर दिखाई देने वाले और ज़िन्दगी का परिचालन करने वाले जज़्बों के अलावा आदमी के मन में कुछ अजीब-सी रहस्यमयी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। उसका सतह पर कोई आभास नहीं मिलता, पर वह धीरे-धीरे आदमी को बदलती जाती है। अचेतन में होनेवाली यह सूक्ष्म प्रक्रिया मुझे न केवल रहस्यमयी लगती है, वरन् महत्त्वपूर्ण भी। *गिरती दीवारें* के पाँचों खंड वास्तव में इसी प्रक्रिया से जुड़े हैं और इस वृहद उपन्यास को लिखने की प्रेरणा भी मुझे इसी के साक्षात्कार से हुई है।" (*आमने सामने*, पृ. 15)

केवल इतना भर ही इस उपन्यास-माला में नहीं है। अश्क जी के शब्दों में, "और इन सबके साथ स्वतंत्रता-पूर्व के पंजाब की मिली-जुली ज़िन्दगी, गा कर क़िस्से बेचनेवाले, वे बैत-बाज़, वे शायर, वह सारा युग—जो बीत गया, जिसकी याद भी आनेवाली पीढ़ियों को नहीं रहेगी—मैं उसे भी उपन्यास के पन्नों में सुरक्षित कर जाना चाहता हूँ। प्रमुखतः अपने सुख के लिए, लेकिन परोक्षतः उनके लिए भी, जो उस युग में झाँकना चाहते हों। यह एक युग की तस्वीर है, जिसे इतिहासकार नहीं दे पाता, साहित्यकार ही दे पाता है।"—*गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि*, पृ. 143। प्रसंगवश, डेज़ी रॉकवैल ने अपने हाल ही में प्रकाशित (2004) मौलिक शोध प्रबंध में अश्क जी के जालंधर और लाहौर की गली-मुहल्लों के सविस्तार वर्णन के बारे में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात कही है। डेज़ी का कहना है, "उनके उपन्यास जालंधर और लाहौर में केवल स्थित नहीं हैं। क्योंकि वे शहर एक अर्थ में, उपन्यास के आधारभूत पात्र हैं। अश्क जी का गलियों, गलियारों, मार्गों, बाज़ारों, पार्कों, पड़ोसियों का सविस्तार वर्णन केवल प्रामाणिक अथवा ऐतिहासिक वर्णन को बनाए रखने मात्र के लिए नहीं है। क्योंकि भौगोलिक विस्तार वहाँ के निवासियों की स्मरणशक्ति की परस्पर प्रभावशील क्रिया से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है।" (Upendranath Ashk : A critical Biography) यानी अश्क जी अपने पात्रों को उसके संपूर्ण, अविभाज्य, परिवेश के साथ चित्रित करना चाहते थे। निस्संदेह अपने उद्देश्य में अश्क जी पूर्णतया सफल रहे हैं।

अपनी इस महत्त्वाकांक्षी रचना पर, अश्क जी को पूरा विश्वास था कि देर-सवेर ये अपना लोहा मनवा लेगी। इस संदर्भ में उनका कथन उल्लेखनीय है कि भले ही उपन्यास में चित्रित जीवन तीस वर्ष पुराना हो, भले ही उसके बहुत से प्रसंग अनुवादातीत हों, "उनमें जिन अनुभूतियों ने अभिव्यक्ति पाई है और मानव के जिन जज़्बों और समस्याओं को उकेरा है, वे न केवल मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण हैं, वरन् बुनियादी भी हैं और देशकाल की सीमाओं को लाँघ भी जाते हैं। इस पर भी वे भारतीय, कहूँ कि निम्न-मध्यवर्गीय भारतीय जीवन से जुड़े हैं और यदि मैंने अपनी सारी ज़िन्दगी उन बुनियादी और अहम जज़्बों के उद्‌घाटन में लगा दी है तो ग़लत नहीं किया।" (*आमने सामने*, पृ. 30) प्रसंगवश पीटर ग्याफ़्के ने भी इसे भारतीय उपन्यास मानते हुए कहा, "यह प्रमुखतः एक भारतीय उपन्यास है और इसलिए इसमें स्थानीय रंगों और स्थितियों का अद्वितीय चित्रण है।" (The collapse of the Illusion A paper on Upendranath Ashk's novel Girti Diware p. 15).

गिरती दीवारें शृंखला का संपूर्ण अध्ययन करने पर जो एक बात पूरी शिद्दत से अनुभव होती है उसकी तरफ़ *अकार* (नवंबर 2002) के अंक 6 में प्रियवंद ने स्पष्ट रूप से इशारा किया है। उन्होंने *शेखर एक जीवनी* के शेखर और चेतन की तुलना करते हुए कहा, "...शेखर का भाव जगत चेतन के संघर्षशील अनुभव जगत से बहुत छोटा है। चेतन के साथ-साथ एक बेहद विराट जीवन बहता है जो इस देश के लाखों-करोड़ों युवकों का जीवन है। उनकी एक बेहद ज़रूरी और लंबी गाथा चेतन है।" यह एक महत्त्वपूर्ण बात है जिसकी ओर ध्यान देने के स्थान पर उपेक्षा या आलोचना की गई है। चेतन चंद गरिमामय लोगों से घिरा अपने अहं का उदात्तीकरण नहीं करता, न ही वो आत्मकेन्द्रित, अंतर्मुखी, आत्मरत ही है। संपूर्ण उपन्यास में चेतन कहीं भी अकेला नहीं है। वह जन-संकुल समाज का अभिन्न हिस्सा है। इस भीड़ से अलग चेतन की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज में हर तरह के लोग हैं, अच्छे-बुरे, टुच्चे, स्वार्थी, बेईमान, विकृत, संभ्रांत, संवेदनशील, अमानवीय, शोषक—चेतन का जीवन इन्हीं के मध्य अपना स्थान खोजता है, संघर्ष करता है। अश्क ने चेतन को भीड़ के बीच चित्रित किया है, कहीं वह इसका हिस्सा है, कहीं इससे कुछ अलग कि वह कुछ बनने की महत्त्वाकांक्षा पाले हैं। चेतन के जीवन की कथा भी असामान्य घटनाओं से परिपूर्ण नहीं है। एक सामान्य युवक की भाँति वह भी अपनी पत्नी को शुरू-शुरू में पसंद नहीं करता, चेतन की सामान्यता ही शायद विशिष्टता की अभ्यस्त हिन्दी आलोचना को पसंद नहीं आई जबकि वह एक महत्त्वपूर्ण बात है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह उपन्यास चेतन के केवल पाँच वर्षों की संघर्षगाथा है। जीवन इसके बाद भी बदस्तूर जारी है। चेतन का जीवन भी कहीं ठहर-सा

नहीं गया है। उसकी दिशा ज़रूर बदली है लेकिन उसका संघर्ष और उसका जन संकुल समाज पहले की तरह उसके साथ है। चेतन की साँस उसके समाज में है और उसका समाज उसके माध्यम से साँस लेता दिखाई पड़ता है। संपूर्ण उपन्यास एक भरे-पूरे समाज का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। भीड़ में एक-एक व्यक्ति का चेहरा साफ़ दिखाई देता है। इन चेहरों की भीड़ में नुमायाँ चेहरा चेतन का है लेकिन वह अन्य चेहरों से न तो विलक्षण है, न अद्भुत, न देदीप्यमान। जैसे भीड़ के अन्य लाखोंलाख लोग अपना जीवन, अपने सारे सुख-दुःख के साथ जी रहे हैं, वह भी जी रहा है। सबका जीवन अभिव्यक्त हो ही नहीं सकता, किसी एक का ही हो सकता है। सुविधा की दृष्टि से उसका नाम चेतन रख लिया गया है। संभवतः इसीलिए एक स्थल पर अश्क जी ने स्वयं कहा है, "चेतन से मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि वह ज़िन्दगी की किताब में प्रश्नचिह्नों का प्रतीक है और जब तक यह ज़िन्दगी है, प्रश्नचिह्नों से कभी मुक्ति नहीं मिलती।" (*साक्षात्कार और विचार* 3, पृ. 163)। हिन्दी में ऐसा एक भी दूसरा उपन्यास नहीं है जो इतने विस्तार से निम्न-मध्यवर्ग का चित्रण करता हो। संभवतः इसलिए यह उपन्यास कहीं-न-कहीं निर्धारित औपन्यासिक तत्त्वों की परिपाटी को तोड़ता है। नायक की पूर्व निर्मित अवधारणा पर कहीं प्रश्नचिह्न लगाता है। ऐसे में यह कहना अनुचित न होगा कि अश्क का अपना अलग रास्ता है जिस पर वे अकेले हैं। उनका किसी ने अनुकरण नहीं किया। *गोदान, शेखर एक जीवनी, राग दरबारी, वाणभट्ट की आत्मकथा, उसका बचपन, कुरु कुरु स्वाहा,* की भाँति *गिरती दीवारें* भी अपनी पहचान में अकेला और अद्वितीय है—अपने तमाम दोषों के बावजूद—ठीक वैसे ही जैसे उपर्युक्त अन्य उपन्यास। नरेन्द्रनाथ ने इस उपन्यास का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अवलोकन करते हुए अश्क जी को लिखा, "मैं राजनीति और समाजशास्त्र का विद्यार्थी हूँ। मैंने हमेशा महसूस किया है कि पंजाबी ज़िन्दगी के जिस हिस्से पर आपने लिखा है, वो साहित्यिक दृष्टि से तो दिलचस्प है ही, पर कला वगैरह के अलावा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से और भी महत्त्वपूर्ण है। मैं 1942 में पैदा हुआ था। लिहाज़ा आपके माध्यम से जो दुनिया मेरी पीढ़ी के सामने आई, वो आपकी किताबों के बिना बहुत क़रीब, मगर क़तई अनजान रह जाती। ऐसा हो जाने का मलाल अंधे-बहरे रह जाने के अफ़सोस से कम न होता। हमारे जैसे पाठकों के लिए लिखना उस कहानी का पहला हिस्सा बुनना है जो हम तक आकर गुम हो जाती है, और जिसे जाने बिना हम अधूरे हैं।"

अश्क के अन्य उपन्यास

अश्क के अन्य उपन्यासों में *गर्म राख* (1952), *बड़ी बड़ी आँखें* (1955), *पत्थर अल पत्थर* (1957) तथा *निमिषा* (1976) को रखा जा सकता है। अश्क के ये चारों उपन्यास हिन्दी में अपना अलग स्थान रखते हैं। इनकी पर्याप्त आलोचना प्रत्यालोचना भी हुई है। इनका पृथक विश्लेषण आवश्यक है।

गर्म राख : *गिरती दीवारें* की भाँति इस उपन्यास की भी काफ़ी चर्चा हुई है। इसे किसी ने यथार्थवादी कहा तो किसी ने प्रकृतिवादी। स्वयं अश्क जी ने इसे "समाज के माध्यम से व्यक्तियों" का चित्रण और एक "समस्या-प्रधान" उपन्यास माना है। इस उपन्यास के मुख्य विषय के बारे में उनका कहना है, "मैंने इकतरफ़ा प्रेम और उसकी निराशा को लेकर यह उपन्यास लिखा है।" अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "प्रेम में मेरा विश्वास है, लेकिन ज़िन्दगी में मेरा विश्वास उससे भी ज़्यादा है। प्रेम यदि ज़िन्दगी को बेहतर तौर पर जीने में मदद नहीं देता, तो मैं उसे आदमी की शक्ति का अपमान समझता हूँ। जगमोहन को चातक जी जैसी कुंठाओं का शिकार होने देना मुझे स्वीकार नहीं था, और प्रेम की निराशा में सत्याजी ने जो कुछ किया, वह उनकी स्थिति में पड़ने वाली कोई युवती (या युवक) न करे, यही मैं चाहता हूँ और इसलिए मैंने यह उपन्यास लिखा।" (*उपन्यासकार अश्क*, पृ. 71-72)

इस उपन्यास में व्यंग्य, विद्रूप और हास्य का जो रूप देखने को मिलता है, वह भी इसे हिन्दी के अन्य उपन्यासों से भिन्न कर देता है। चातक जैसे पात्र के चित्रण में अश्क का व्यंग्यकार अत्यंत सक्रिय हो जाता है। इसके मूल कारण पर प्रकाश डालते हुए अश्क जी ने कहा है, "मुझे बनावट से चिढ़ है और समाज में जितनी बनावट है, उसका पर्दाफ़ाश करना मुझे अत्यंत प्रिय लगता है। इसलिए *गर्म राख* में बहुत-से पात्रों का व्यंग्य-विद्रूप भरा चित्रण है, जो उनकी बनावटों की पोल खोलता है।" (वही, पृ. 72) लेकिन इस सत्य के साथ ही उनका मानना यह भी है कि उन्होंने *गर्म राख* के किसी पात्र की सहानुभूतिहीन खिल्ली नहीं उड़ाई। "यहाँ तक कि चातक जी का चरित्र-चित्रण करते समय भी सहानुभूतिपूर्ण व्यंग्य का ही सहारा लिया गया है। चातक जी का कवि हृदय होना और उनकी पत्नी का कुरूपा—यह एक स्थिति ही उनके वायरनवादी व्यवहार के प्रति पाठक के मन में अव्यक्त सहानुभूति जगा देती है। शुक्ला जी के टुच्चेपन के पीछे भी उनकी पत्नी की अपरूपता और उनके जीवन-संघर्ष का अत्यंत विकट होना ही है।"

(वही, पृ. 72) कुछ भी हो, *गर्म राख* में ऐसे पात्रों के चित्रण में अश्क जी को अद्भुत सफलता मिली है।

इस उपन्यास में हरीश और दुरो जैसे पात्रों की रचना भी हुई है। दुरो के चरित्र को सभी आलोचकों ने एक सशक्त पात्र स्वीकार किया है। अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय भी लेखक ने इन्हीं के माध्यम से दिया है। नेमिचन्द्र जैन का कहना है, "मज़दूर नेता हरीश का चित्रण हिन्दी उपन्यास में अपने ढंग का अकेला है। हिन्दी के शायद ही किसी दूसरे उपन्यासकार ने किसी मज़दूर नेता को इतनी सहानुभूति और सतर्कता के साथ अंकित किया हो।" (वही, पृ. 273)

इस उपन्यास की एक और विशेषता की तरफ़ संकेत करते हुए राजेन्द्र यादव ने कहा है, "अपने बहुत से मित्रों की तरह मेरा भी दावा है कि एक शहर अपनी अधिकतम विशेषताओं के साथ किसी भी उपन्यास में अभी तक शायद ही इतना मुखरित हुआ हो, जितना लाहौर *गर्म राख* में हुआ है।" (वही, पृ. 74)

अतः स्पष्ट है कि यह उपन्यास केवल एक पक्षीय प्रेम की त्रासदी को व्यक्त करने के लिए ही नहीं लिखा गया। इसमें प्रगतिशील पक्ष की अभिव्यक्ति के मूल में सामंती रूढ़ियों का विरोध है। लाहौर के साहित्यिक वातावरण का यथार्थ वर्णन करते हुए साहित्यकारों/कवियों की मानसिक विकृति या कुंठा को उद्घाटित करना भी लेखक का उद्देश्य है। साथ ही इस उपन्यास में प्रेम के विभिन्न रूपों को बड़ी ख़ूबी से बुना गया है। चातक और शुक्ला जी का प्रेम एक जैसा है, जो हर युवती को देखकर उमड़ने लगता है। जगमोहन और सत्या जी का प्रेम छिपकली-सा है। दाताराम का प्रेम वासनामय है। हरीश और दुरो का प्रेम प्लेटानिक एवं आदर्शमूलक है। बसंत और सरला का प्रेम मानवीय और व्यावहारिक है। इस प्रकार इस उपन्यास में प्रेम के विविध पक्षों, विभिन्न शेड्स का वर्णन भी हुआ है।

इस उपन्यास के पात्रों के बारे में जो बात राजेन्द्र यादव ने कही है, वह उनके सभी उपन्यासों पर ज्यों की त्यों लागू की जा सकती है। उनका कहना है, "अश्क हिन्दी का पहला उपन्यासकार है जो कभी भी अपने उपन्यासों की कहानी को वर्ग, समाज और तत्कालीन परिस्थितियों से एकदम काटकर अपने पात्रों में, ड्राइंगरूमों, कमरों या रेल के डिब्बों में से ले जाते हुए भी केवल उन तक सीमित नहीं रखना जानता। दिल्ली के प्लेटफ़ार्म पर एक-दूसरे को विदा देते हुए 'रेखा और भुवन' जैसा वाटर-पाइप खोल आपको अश्क में नहीं मिलेगा। वह हर समय आपको अनुभव कराता रहेगा कि यह ऐसे लोगों की कहानी है जो आदमियों के बीच में रहते हैं, जिनमें कुछ सामाजिक संबंध और संपर्क हैं, स्तर और स्थितियाँ हैं और उनका जीवन नदी के द्वीप का जीवन नहीं जहाँ सो और गुड फ्राइडे के अलावा और कोई हो ही न।" (वही, पृ. 174)

बड़ी बड़ी आँखें (1955) : अश्क जी का एक अपेक्षाकृत छोटा उपन्यास है। अश्क के महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में इसे एक माना जाता है। सुमित्रानंदन पंत ने इसे गीति उपन्यास

कहकर पुकारा है और देवराज उपाध्याय इसे यथार्थवादी गीति उपन्यास कहते हैं। इसका मुख्य कारण देवनगर के प्राकृतिक सौन्दर्य के स्वाभाविक शब्द-चित्र हैं जिन्हें अश्क ने अपनी प्रवाहमान भाषा में व्यक्त किया है। प्रकृति का ऐसा सजीव वर्णन अश्क के इस उपन्यास को एक नया अर्थ प्रदान करता है। इस कथा में प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में जिस यथार्थ को व्यक्त किया गया है, वह एक विडंबना का रूप धारण कर लेता है।

इस उपन्यास को एक प्रेमकथा भी कहा गया है। संगीत और वाणी की प्रेम-कथा का दुःखान्त इस उपन्यास का मूलाधार माना गया है जबकि अश्क जी इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है, *"बड़ी बड़ी आँखें* प्रेम-कथा नहीं है। प्रेम-प्रसंग वहाँ देवनगर के धोखे का पर्दाफ़ाश करने के लिए आया है क्योंकि देवनगरिए उसके गुण गाते हैं। प्रेम वहाँ की आचार-संहिता का एक प्रमुख मुद्दा है, जैसे अहिंसा या सत्य सेवाग्राम का। उनके इस प्रमुख सिद्धांत के गिर्द उपन्यास बुनकर मैंने उस ढोल के अंदर का पोल और भी अच्छी तरह दिखाया है।" (*साक्षात्कार और विचार* 2, पृ. 130) भले ही प्रेम कथा कहना लेखक का उद्देश्य नहीं है लेकिन इस प्रेमकथा के माध्यम से इस उपन्यास को एक कोण विशेष से समझा जा सकता है।

अपने इस उपन्यास के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं, "मैं तो सिर्फ़ उस उपन्यास के माध्यम से यह बताना चाहता था कि आदर्श यदि ठोस धरातल पर नहीं खड़े हैं तो कभी सफल नहीं हो सकते और वह ठोस धरातल, ज़िन्दगी की वास्तविकताओं को जानकर उनके अनुरूप अपने आदर्श बनाकर, ज़िन्दगी की वास्तविकताओं को उनके अनुरूप ढालने से ही हो सकता है। समझौते आदर्शों को कभी पूरा नहीं कर सकते...।" (वही, पृ. 128) अपनी इस बात को लेखक ने देवनगर और उसके संस्थापक देवा जी के माध्यम से प्रकट किया है। देवा जी वास्तव में "एक बहुत ही काइयाँ इंजीनियर है, जो अमेरिका रह आया है और व्यावसायिकता को कैसे मानव-धर्म और प्रेम और सहभागिता और परस्पर शाबासी जैसे नारों के पर्दे में छिपाया जा सकता है, यह अच्छी तरह जानता है। उसे वर्तमान समाज की विसंगतियों का भी ज्ञान है और वह उन विसंगतियों में आम आदमियों की घुटन को भी जानता है, इसलिए उसने ऐसे तमाम लोगों को प्रसन्न करने और उनके पैसे का उपयोग उस सस्ती ज़मीन को महँगे दामों बेचने के लिए करने की ख़ातिर, मीठे चाशनी भरे, शब्दों से एक सपना निर्मित किया है, जिसे वह दूरदराज़ बैठे लोगों के सामने अपनी पत्रिका द्वारा लहराता रहता है ताकि वे देवनगर में ज़मीन खरीदकर इस उद्देश्य से कोठियाँ बनवाएँ कि रिटायर होकर वे वहाँ बस सकें।" (वही, पृ. 136) इस प्रकार देवा जी का यह व्यापार, 'धोखे का व्यापार' है। जालंधर शहर के पास बसे प्रीतनगर के अपने अनुभवों को आधार बनाकर लिखे गए इस उपन्यास में वस्तुतः आश्रम या मठों या व्यापक स्तर पर एक 'कम्यून' बनाकर एक सुंदर और आदर्श जीवन के झूठ को अभिव्यक्त किया गया है। बकौल अश्क, "पूरा-का-पूरा देवनगर एक ऐसे देश का प्रतीक बन जाता है, जिसका सर्वेसर्वा बड़े आदर्श की बातें

करता है, पर जिसकी ऐन नाक के नीचे भ्रष्टाचार, स्वजन-पालन, धोखा-धड़ी, छल-कपट, शोषण और उत्पीड़न पल रहा है और उपन्यास का नायक सोचता है कि जब तक उस व्यवस्था को ऊपर से नीचे तक नहीं बदला जाता, उस देश का कुछ नहीं होगा। यही तो उस उपन्यास का मर्म है।" (*विवादों के घेरे में*, पृ. 89) ज़रा ग़ौर से देखें तो यह वर्तमान भारत का यथार्थ है। अश्क जी ने ठीक ही लिखा है कि यह उपन्यास, "उतना सामाजिक नहीं जितना राजनीतिक है। चूँकि इसमें प्रत्यक्ष रूप से राजनीति की चर्चा बिल्कुल नहीं है, शायद इसीलिए लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हुआ। *बड़ी बड़ी आँखें* के रोमानी कथानक में राजनीतिक भावना आत्मा के रूप में विद्यमान है। पूरे का पूरा देवनगर और उसकी व्यवस्था एक विशिष्ट सरकारी ढाँचे का प्रतीक है।" (*उपन्यासकार अश्क*, पृ. 74) निस्संदेह यह एक प्रतीकवादी उपन्यास है जो हमारी वर्तमान व्यवस्था का वास्तविक सच हमारे सामने प्रकट करता है। वस्तुतः यही इस उपन्यास का मूल मुद्दा है। भैरवप्रसाद गुप्त ने ठीक ही लिखा है, "*बड़ी बड़ी आँखें* में एक सुधारवादी संस्था का जायज़ा लिया गया है और यह बताया गया है कि ऐसी संस्था के ऊपर एक द्रष्टा, एक आदर्शवादी, एक मानवता-प्रेमी नेता के रहते हुए भी, उस इमारत की नींव भ्रष्टाचार और स्वजन-पालन में गली जा रही है। अश्क ने बड़े सूक्ष्म, लेकिन सुस्पष्ट ढंग से यह बताया है कि किसी व्यक्तिवादी आदर्श और सुधारवादी संस्था के उद्देश्य चाहे जितने महान हों, उसकी नींव खोखली ही होती है। जिन उद्देश्यों को लेकर देवा जी ने 'देवनगर' की स्थापना की है, उन्हीं का गला देवनगर में घोटा जा रहा है और यूँ प्रकट में रूमानी लगने वाला वह उपन्यास, अपनी तमाम गीतिमयता के साथ अश्क के दोनों वृहद उपन्यासों की तरह ठोस धरती पर खड़ा है। शैली उसकी संस्मरणात्मक और गीतिमय है, जिससे उसमें सच्चे और खरेपन के साथ अजब-सा माधुर्य आ गया है।" (*उपन्यासकार अश्क*, पृ. 277)

पत्थर-अल-पत्थर (1957) : आकार में लघु होते हुए भी यह उपन्यास अश्क साहित्य में अकेला है। अपनी कुछ कहानियों की भाँति इस उपन्यास में भी अश्क जी ने निम्न-मध्यवर्ग को छोड़कर निम्नवर्ग के एक पात्र की दयनीय स्थिति का यथार्थ चित्रण किया है। कश्मीर के अपार प्राकृतिक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में अश्क जी ने *पत्थर अल पत्थर* में एक ओर तो मध्यवर्गीय सैलानियों के टुच्चेपन की पोल खोली है और दूसरी ओर घोड़ावानी अथवा कुलीगिरी करने वाले ग़रीब व धर्मभीरु भूमिहीन किसानों के शोषण और उत्पीड़न का खाका खींचा है।

कश्मीर की पृष्ठभूमि पर यह हिन्दी का पहला उपन्यास है जो वहाँ के सौन्दर्य का चित्रण करने के साथ-साथ वहाँ की ग़लाज़त को भी अभिव्यक्त करता हो और इसके कारणों पर भी प्रकाश डालता हो। इसे 'प्रोफ़ेटिक' उपन्यास भी कहा जा सकता है क्योंकि आज कश्मीर के जो हालात हैं, उसके पीछे राजनैतिक रोटियाँ सेंकने के

साथ-साथ वो सब कारण विद्यमान हैं जिनका वर्णन अश्क जी ने 1957 में ही इस उपन्यास के माध्यम से कर दिया था। अश्क जी ने लिखा है, "दो-तीन बातें जो कश्मीर की उस यात्रा में बार-बार मेरे मन में उठीं, मुझे कोंचती रही, उन पर मैं प्रकाश डालना चाहता था। पहली थी, ख़ुदा में वहाँ की ग़रीब जनता की परम आस्था अपने हर भले-बुरे का निमित्त ख़ुदा को मानना। और यही एक बात शायद वहाँ की घोर ग़रीबी का कारण भी है। दूसरी, वहाँ का अनुपम सौन्दर्य और उसमें बसने वाली अपरूपता और तीसरी, वहाँ की सैर करनेवालों और संरक्षकों की कठोर निर्दयता (Callousness)। (*उपन्यासकार अश्क*, पृ. 77)

अश्क जी ने आगे कहा है, "मैं *पत्थर अल पत्थर* को अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास मानता हूँ। इस छोटी-सी कथाकृति के थोड़े से घटना-प्रसंगों तथा चित्रण-वर्णन के माध्यम से मैंने धर्म, समाज, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था सभी के बारे में अपने विचारों को सांकेतिक ढंग से पूरी तीव्रता से रखने का प्रयत्न किया है।" (वही, पृ. 79) यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि आज भी कश्मीर की स्थिति वैसी ही है और कश्मीर पर आज भले ही कई पुस्तकें हों मगर अश्क जी का यह उपन्यास अपनी टेक में आज भी अकेला और अद्वितीय है। यथार्थ तो यह है ही। ज्ञानरंजन का कहना है कि इस, "उपन्यास के माध्यम से यह सत्य कि मात्र ज़िन्दा रहने का प्रश्न ग़रीब कश्मीरियों के सामने कितने भयंकर रूप में खड़ा है, चित्र की तरह सामने आ चुका है।" वी. गोपालन इसे कश्मीर के ग़रीबों की ज़िन्दगी के कटु यथार्थ को अंकित करनेवाला उपन्यास मानते हैं।

अश्क जी का कहना है, "उपन्यास का नायक हसनदीन कश्मीर की घाटी के उस अकथनीय सौन्दर्य में रेंगने वाली निरीह ग़रीबी का प्रतीक है और खन्ना साहब वहाँ का रस लूटने को जाने वाले पत्थर दिल मध्यवर्गीय कंजूस विज़िटरों का।" (वही, पृ. 77)

इस उपन्यास का नायक हसनदीन दो तरफ़ से मार सह रहा है—एक ओर तो सामंती व्यवस्था है जो धर्म, पुलिस के ज़ोर और व्यापक दरिद्रता की बुनियाद पर टिकी हुई है और दूसरी ओर है उभरती हुई पूँजीवादी व्यवस्था जो हर चीज़ को यहाँ तक कि प्राकृतिक सौन्दर्य और व्यक्ति के नैसर्गिक गुणों को भी पैसे के बल पर ख़रीदने में विश्वास करती है। अश्क ने यह सब कुछ पात्रों और प्रसंगों के माध्यम से कहा है। हसनदीन की त्रासदी का कारण खन्ना साहब जैसे टुच्चे मध्यवर्गीय हैं जो कश्मीर के सौन्दर्य पर लुब्ध होते जाते हैं मगर हृदय से पत्थर ही रहते हैं। हसनदीन की एक दिन की चर्या के माध्यम से इस यथार्थ को प्रकट करने में अश्क ने पूर्ण सफलता प्राप्त की है।

इस उपन्यास को यात्रा-वृत्तांत शैली में लिखा गया है जिसके कारण कुछ आलोचकों ने इसे यात्रा वृत्तांत ही कह दिया है। यह धारणा पूर्णतया ग़लत है। भैरवप्रसाद गुप्त ने इस संदर्भ में ठीक कहा है, "हसनदीन को घर में या खेत में सही माने में नहीं देखा जा सकता। उसका कार्यक्षेत्र तो वह पथ है, जिस पर घोड़ा चलाते-चलाते,

उसके पीछे चलते-चलते, सवारों को खुश करते-करते उसकी आज तक की ज़िन्दगी बीती है। यही उसका कार्यक्षेत्र है, संघर्ष क्षेत्र है। हसनदीन को एक्शन में यहीं देखा जा सकता है। अश्क ने यह ठीक ही किया, जो हसनदीन की इस कहानी को यह पृष्ठभूमि दी है। यात्रा-वर्णन इस उपन्यास की पृष्ठभूमि है—वह कैनवस जिस पर उपन्यास के मुख्य-पात्र हसनदीन का चरित्र चित्रित है।" (*उपन्यासकार अश्क,* पृ. 250-51)

हसनदीन एक अकिंचन व्यक्ति है मगर वह पूरे उपन्यास पर छाया हुआ है। वस्तुतः उसका स्वर ही उपन्यास का स्वर है। उपन्यास कुछ इस संवेदना से लिखा गया है कि अंत में हसनदीन के गाल पर पड़ता थप्पड़ पाठक के गाल पर पड़ता है। "हसनदीन के लिए हमारा मन रोता है और उस व्यवस्था के प्रति हमारे हृदय में विद्रोह उभरता है, जिसने हसनदीन के गाल पर थप्पड़ मारा है। यही आँसू और आग *पत्थर-अल-पत्थर* हमारे पास पवित्र थाती के रूप में छोड़ता है।" (वही, पृ. 154) भैरवप्रसाद गुप्त का यह कथन इस उपन्यास की मूल संवेदना को पूर्णतया प्रकट कर देता है। खन्ना जैसे सैलानियों के प्रति मन आक्रोश और घृणा से भर जाता है। अपने नंगेपन को बार-बार ढकने के प्रयत्न में खन्ना साहब निरंतर नंगे और बीभत्स होते जाते हैं और हसनदीन अपनी निर्धनता के परिणामस्वरूप नंगेपन के बावजूद पाठक की सहानुभूति की चादर ओढ़ लेता है—यह कार्य अश्क की कला से अपने आप होता है।

इस उपन्यास में भी अश्क का व्यंग्यकार पूर्णतया सक्रिय है। भैरवप्रसाद गुप्त का तो यहाँ तक कहना है कि इसके बिना अश्क अधूरे हैं। इस उपन्यास में व्यंग्य संपूर्ण रचना की पृष्ठभूमि में वर्णित है। हिन्दी में आम आदमी के नाम पर रची गई कृतियों में यह उपन्यास अन्यतम है क्योंकि यह एकदम सच्चा, खरा और यथार्थ है। शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास अश्क जी ही के शब्दों में "सर्वाधिक संगठित, संश्लिष्ट और सुनियोजित है।" (*उपन्यासकार अश्क,* पृ. 76)

निमिषा (1980) : यह अश्क का अन्य उपन्यासों के अंतर्गत आने वाला अंतिम उपन्यास है। इसमें पुनः एक निम्न-मध्यवर्गीय चित्रकार युवक की कथा को अश्क जी ने चिरपरिचित अंदाज़ में प्रस्तुत किया है। अश्क जी को जाननेवालों का मानना है कि यह उपन्यास भी आत्मकथात्मक है क्योंकि इसकी बहुत-सी घटनाएँ उनके अपने जीवन से मेल खाती हैं। चंद्रेश्वर कर्ण ने तो इस उपन्यास के सभी पात्रों को अश्क के जीवन के साथ मिलाकर इस प्रकार प्रस्तुत किया है, "*निमिषा* उपन्यास का नायक गोबिन्द स्वयं अश्क है साथ ही चेतन ही गोबिन्द है। कौशल्या अश्क ही निमिषा हैं। अश्क की पहली पत्नी शीला ही 'निमिषा' के गोबिन्द की पहली पत्नी लक्खी है। अश्क की दूसरी पत्नी माया ही, 'निमिषा' की माला है।" आलोचक के तथ्यों के उद्घाटन से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। इस उपन्यास पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अश्क के प्रायः सभी उपन्यासों (*पत्थर अल पत्थर* को छोड़कर) पर यह आरोप लगता रहा है कि वे अपने ऊपर उपन्यास लिखते हैं। इसे सत्य मान भी लिया जाए तब भी यह महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय सवाल

बचा रहता है कि औपन्यासिक दृष्टि से ये रचनाएँ कैसी हैं? अश्क जी की जीवनी होने भर से ये रचना न तो त्याज्य हो जाती है और न ही ग्राह्य। इन्हें उपन्यास की कसौटी पर परखना ही महत्त्वपूर्ण है अन्यथा हिन्दी के कई उपन्यासों—महत्त्वपूर्ण उपन्यासों—पर प्रश्नचिह्न लगाना पड़ेगा।

इस उपन्यास में अनमेल विवाह की समस्या को आधार बनाया गया है। निःसंदेह यह समस्या नई नहीं है। लेकिन इस उपन्यास में उठाई गई यह समस्या आयुगत नहीं है जैसा कि प्रेमचंद के 'निर्मला' में है बल्कि हमउम्र होते हुए भी मानसिक स्तर पर अनमेल की है। इस धरातल पर यह समस्या अनमेल की भी नहीं स्त्री-पुरुष संबंधों की हो जाती है, जिसे कई स्तरों पर अश्क ने अपने उपन्यासों में उकेरा है। नायक गोबिन्द के साथ उसकी दूसरी पत्नी का कोई तालमेल नहीं है। वह अपनी उस पतली-दुबली, सड़ी-सिकुड़ी, चुभतीं हुई हड्डियों वाली पत्नी माला की देह का एग्रेशन और भूख देखकर चकित है। वह उसकी अपरंपार क्रूडिटी को सहन नहीं कर पाता परिणामस्वरूप उससे पलायन के अतिरिक्त उसके पास और कोई रास्ता नहीं।

इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने अनिर्णय में पड़े हुए व्यक्ति की त्रासदी को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। वह निमिषा से प्यार करने के बावजूद अपनी सगाई नहीं तुड़वा पाता और अंततः विवाह कर बैठता है, जिसके फलस्वरूप उसे यातना सहनी पड़ती है। वह निमिषा से चोरी-छिपे शादी करने को तो तैयार है मगर अपने भाई-भाभी के विरुद्ध जाने को तैयार नहीं है। गोबिन्द वस्तुतः एक बेहद आवेगी और भावुक व्यक्ति है—ठीक समय पर ठीक निर्णय न लेना उसकी प्रकारांतर से निम्न-मध्यवर्गीय युवक की नियति है—परिणाम या तो चंदा के रूप में सामने आता है या माला के। *गिरती दीवारें* की चंदा धीरे-धीरे चेतन की चेतना में घर कर लेती है अपने स्वभाव की निश्छलता से जबकि इस उपन्यास की माला उसे दूर फेंकती है। इस उपन्यास में इसी कोण को अभिव्यक्त किया गया है। *निमिषा* जैसा सशक्त पात्र इस उपन्यास की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। कहीं यह पात्र माला के ही नहीं नायक गोबिन्द के भी विरोध में खड़ा दिखाई देता है। नायक की ढुलमुलता के विपरीत निमिषा आत्मविश्वास और सही निर्णय लेने की क्षमता से पूर्ण है।

पत्र शैली का इस उपन्यास में अच्छा प्रयोग हुआ है। अश्क की भाषा का अपना आस्वाद है जो इस उपन्यास में ज्यों का त्यों बरकरार है। इसमें भी पात्रानुकूल, परिवेशानुकूल तथा विचारानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। उपन्यास की रोचकता में कहीं कोई कमी न होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि यह उपन्यास अश्क के उपन्यास साहित्य में कुछ 'नया' नहीं जोड़ता।

अश्क जी के इन उपन्यासों में वस्तु और शिल्प के धरातल पर भिन्नता देखने को मिलती है। चारों उपन्यासों में अलग-अलग विषयों को अलग-अलग ढंग से अभिव्यक्त किया

गया है। *गर्म राख* यदि वृहद उपन्यास है तो *बड़ी बड़ी आँखें* और *पत्थर अल पत्थर* छोटे उपन्यास हैं। *निमिषा*, सामान्य आकार का है। अश्क के इन उपन्यासों को *गिरती दीवारें* उपन्यास-माला से कहीं अधिक सफल माना गया है। पात्रों की वैविध्यता भी यहाँ है। जगमोहन, चातक, हरीश, हसनदीन, खन्ना जैसे पात्र यहाँ हैं तो सत्या, वाणी, निमिषा, दुरो, माला जैसी नारियाँ भी हैं। ये सब पात्र अश्क के व्यापक जीवनानुभव का पता देते हैं। उन पर अपने कथ्य को दोहराने का आरोप एकदम बेबुनियाद है।

अश्क के व्यंग्यकार को अनदेखा करके इन उपन्यासों को समझना कठिन होगा। अश्क के संपूर्ण साहित्य का इसे प्राणतत्त्व भी कहा जा सकता है। अपने समाज और कुछ लोगों के छद्म के उद्घाटन के लिए अश्क जी ने इसका हथियार के रूप में प्रयोग किया है। अश्क की कलम की धार का पता यहीं चलता है। व्यंग्य का प्रयोग कथ्य को उभारने में भी सहायक हुआ है। पात्रों का ख़ाक़ा खींचने में अश्क सिद्धहस्त हैं। इन उपन्यासों की भाषा सरलता के बावजूद सक्षम है। ये उपन्यास अश्क की कलात्मक रुचि और समझ का पूरा परिचय देते हैं। विविध रूप-रंग, चाल-चलन, सोच और रुचियों वाले पात्रों का जैसा ज़खीरा अश्क के उपन्यासों में देखने को मिलता है, हिन्दी के किसी अन्य उपन्यासकार के उपन्यासों में देखने को नहीं मिलता। अश्क के उपन्यासों को सामने रखकर ये बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है।

सवाल हो सकता है कि अश्क जी ने ये उपन्यास क्यों लिखे? इनके लेखन के पीछे कौन सी ऐसी प्रेरणा है जिससे वशीभूत होकर वे ये उपन्यास लिखने बैठ गए? रवीन्द्र कालिया को दिए साक्षात्कार में अश्क जी ने विस्तार से इसका जवाब दिया है। उनका कहना है, "वर्षों से मेरे सामने मेरा घर-द्वार, दोस्त-मित्र और मेरा निम्न-मध्यवर्गीय परिवेश, उसकी विसंगतियाँ और हक़ीक़तें हैं। उस ज़िन्दगी में जो तथ्य या सत्य या सूत्र मुझे आंदोलित करते हैं, एक ही हक़ीकत के कई-कई पहलू नज़र आते हैं, मन में जो प्रश्न उठते हैं, उन्हीं के उत्तर पाने के लिए मैं कलम उठाता हूँ। मानव स्थिति और मानव नियति मेरे लेखन का विषय हैं।" (*विवादों के घेरे में*, पृ. 74-75)

अपनी इस बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "कुछ हक़ीक़तें हैं जो व्यक्ति की भी हैं और समाज की भी हैं और मुझे गहरे में आंदोलित भी करती हैं। उन्हें मैं अभिव्यक्ति देता हूँ। अंदर से मैं एक क्रुद्ध आदर्शवादी हूँ और जैसा कि मैंने कहा, मेरी कथनी और करनी में बहुत अंतर नहीं है। जब मैं व्यक्ति और समाज, उसके गुटों के छल-प्रपंच, झूठ, रियाकारी, धूर्तता, शोषण, उत्पीड़न को देखता हूँ तो बुरी तरह आंदोलित होता हूँ और मेरा क्रोध व्यंग्य के माध्यम से उन हक़ीक़तों की अक्कासी करता है।" (वही, पृ. 77) इसका कारण स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "मैंने आज तक अपने निम्न परिवेश का अत्यंत बारीक और सार्थकता भरा चित्रण किया है और इस प्रक्रिया

में अपने सगे-संबंधियों, मित्र-परिचितों, अपने गली-मुहल्लों बाज़ार शहर को नहीं बख़्शा—इस उद्देश्य से कि वहाँ जो गर्हित है, सड़ रहा है, उसे बदल दिया जाए—मेरे सारे लेखन का एकमात्र उद्देश्य यह रहा है कि मैं अपने पाठकों को उनके परिवेश की यथार्थता दिखाऊँ ताकि वे झूठी ज़िन्दगी न जिएँ, झूठे और न पूरे होने वाले सपने न बनाएँ। यदि ये ज़िन्दगी की यथार्थता जानकर सपने देखेंगे, आदर्श बनाएँगे तो ज़रूर ही उन्हें पूरा कर ले जाएँगे।" (वही, पृ. 117)

अश्क जी के तमाम उपन्यासों का मूलाधार यही है। अश्क जी की यथार्थवादी दृष्टि उनके उपन्यासों को अपने समाज और लोगों से जोड़े रखती है। अश्कजी पर ढेरों आरोप हैं, लेकिन उनके उपन्यासों के खरेपन, सच्चेपन पर किसी ने अँगुली नहीं उठाई। ये बात न केवल उन्हें हिन्दी उपन्यासकारों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाती है, बल्कि अन्य उपन्यासकारों से अलग भी करती है। जो मुद्दे अश्क जी ने अपने उपन्यासों में उठाए हैं, वे अन्य किसी हिन्दी उपन्यासकार ने नहीं उठाए। इस दृष्टि से इन उपन्यासों का महत्त्व निर्विवाद है।

कहानीकार अश्क

अश्क जी ने एक स्थान पर लिखा है, "मेरे कहानीकार बनने के पीछे एक अनजाने विद्रोह की भावना काम करती थी। मैं जिस परिवार और वातावरण में पल रहा था, उसकी असंगतियों और कुंठाओं ने मुझे कवि और कथाकार बना दिया था। इसलिए बहुत देर तक अपने वातावरण और समाज को भूलकर काल्पनिक कहानियाँ बुनना मेरे लिए संभव न था। इस दौर की कुछ रोमानी कहानियाँ—'निशानियाँ', 'नरक का चुनाव', 'वह मेरी मंगेतर थी'—में भी अनजाने ही उस विद्रोह का झीना-सा स्वर आ गया है। कल्पना से उद्भूत होने के बावजूद इनमें से कुछ में मेरे जीवन की कुछ अनुभूतियाँ अपने आप शामिल हो गई हैं और फिर ज्यों-ज्यों मेरा जीवन संघर्ष बढ़ता गया, थोड़ा-बहुत मनोविज्ञान का समावेश भी मेरी कहानियों में होता गया, यहाँ तक कि 1935-36 में जीवन की वास्तविकताओं से मेरा सीधा संपर्क हुआ और परिस्थितियों की पहली ही चोट ने मेरी आँखों पर छाया हुआ कल्पना का रोमानी पर्दा तार-तार कर दिया, ज़िन्दगी अपने वास्तविक रूप में मुझे दिखाई देने लगी, ग़ैरमारूफ़ जर्नलिस्ट (अख्यात पत्रकार) द्वारा सुनी हुई कहानियाँ एकदम पोच लगने लगीं, वैसी कहानियाँ लिखना बेकार मालूम होने लगा, 'अख्यात पत्रकार' का जादू एकदम टूट गया और मैं फिर अपनी पहली रविश की ओर पलटा।" (*सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ*—भूमिका, पृ. 25)

1928 से 1968 तक अश्क ने लगभग डेढ़-दो सौ कहानियाँ लिखी हैं। मुख्यतः 1936 के बाद उन्होंने उत्तरोत्तर बेहतर कहानियों की रचना की। इनमें व्यापकता, गहराई, वैविध्यता आती चली गई है। अश्क ने एक ही शिल्प या शैली या एक ही रंग की कहानियाँ नहीं लिखीं। इसका मुख्य कारण बताते हुए उन्होंने कहा, "मेरा मस्तिष्क निहायत क्रियाशील और मेरा मन अत्यंत चंचल है। एक ही रंग विशेषकर कहानियों और एकांकियों में अपनाए रखना मेरे लिए कठिन है (*मेरी प्रिय कहानियाँ*, पृ. 19)"। अलग रूप-रंग, शैली और शिल्प की कहानियाँ लिखने वाले अश्क जी ने यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की है कि उन पर प्रगतिवादी विचारधारा का प्रभाव रहा है, "जहाँ तक मेरा संबंध है, यद्यपि मैं कभी प्रगतिशील लेखक संघ का बाक़ायदा सदस्य नहीं बना, लेकिन मैं इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि मेरी विचारधारा और मेरे साहित्य के उद्देश्य पर उस आंदोलन का बहुत प्रभाव पड़ा। 'कल्पना और कला के लिए' के इंद्रजाल से तो मैं उसी के कारण निकल पाया।" (*खोने और पाने के बीच*, पृ. 80-81) एक दूसरा प्रभाव भी है जिससे वे कभी मुक्त नहीं हो पाए—वह है उनका व्यक्तिगत दुःख जो उन्हें

1935-36 में झेलना पड़ा। "अपने दुःख से मैंने दूसरों के दुःख को देखना सीखा और प्रगतिशील आंदोलन से उपादेय ढंग से सोचना। सच्ची बात है कि इन दोनों के असर से मैं आज तक मुक्त नहीं हुआ।" (वही, पृ. 80)

अपनी कथा-यात्रा के चालीस वर्षों में जहाँ परिमाण में अश्क जी ने दो सौ के लगभग कहानियाँ लिखीं, वहीं इनमें वैविध्यता की भी कोई कमी नहीं। अपनी कथा-यात्रा का जायज़ा लेते हुए उन्होंने चार प्रकार की कहानियों का ज़िक्र किया–

1. विशुद्ध हास्य–चपत, रोबदाब, तकल्लुफ़, लिरेंजाइटिस, चारा काटने की मशीन, आ लड़ाई आ, खाली डिब्बा तथा टोपियाँ और डॉक्टर आदि।
2. तीव्र व्यंग्य–मनुष्य-यह! पिंजरा, गोखरू, काले साहब, कैप्टन रशीद, जब संतराम ने बेलना उठाया, फतूर, आर्टिस्ट, दालिए, झटके।
3. सेक्स प्रधान मनोविज्ञान का मार्ग–अंकुर, चट्टान, उबाल, पलंग, बेबसी, झाग और मुस्कान तथा अजगर।
4. बहुआयामी–आकाशचारी, एक उदासीन शाम, अजगर, कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल। (*खोने और पाने के बीच*, पृ. 82)

1988 में अश्क जी की उर्दू में एक पुस्तक प्रकाशित हुई है–*मेरी अफ़साना नवीसी के चालीस बरस*। इसमें उन्होंने लिखा है, "कहानियों की संपूर्ण जाँच-पड़ताल करनी हो तो उद्देश्य और रूप (बुनावट) के लिहाज़ से उन्हें अलग क़िस्मों में बाँटना चाहिए। लेकिन रूप का मसला टेढ़ा और पेचीदा है। वो काम मैं कला आलोचकों और शोधकर्ताओं पर छोड़ता हूँ। आम पाठकों की दिलचस्पी के लिए कहानियों की लंबाइयाँ उनके उद्देश्य की दृष्टि से हैं उन्हें निम्न क़िस्मों में बाँटना चाहूँगा :

1. कहानियाँ जो लतीफ़ों जैसी हैं–मंटो के स्याह हाशिए की लघु-कथाओं जैसी। फ़र्क़ यही है कि मैंने मंटो से डेढ़-दो दहाई पहले वैसी लघु-कथाएँ लिखी थीं। इन लघु-कथाओं में भी मेरी कहानी कला के सभी रंग और शेड्स मौजूद हैं।
2. दो से चार पृष्ठों की संक्षिप्त कहानियाँ जो तकनीक की दृष्टि से एक दम मुकम्मल हैं। ये भी सभी रंगों से पूर्ण हैं।
3. मध्यम दर्जे की आम कहानियाँ। इनमें मेरी अधिकांश प्रसिद्ध और लोकप्रिय कहानियाँ शामिल हैं। ये कहानियाँ छः प्रकार की हैं।
   (क) रूमानी कहानियाँ
   (ख) वर्ग विभाजित समाज के शिकार लोगों की कहानियाँ
   (ग) मनोवैज्ञानिक कहानियाँ
   (घ) कहानियाँ जो सेक्स जन्य भाव के किसी पक्ष को चित्रित करती हैं।
   (च) सामाजिक कहानियाँ जो हमारे समाज की किसी-न-किसी बुराई को उजागर करती हैं।

(ज) कहानियाँ जो संस्मरणों जैसी हैं। इनके पात्र ज़िन्दगी से उठाए गए हैं और उनकी कहानी में ज़्यादा फेर-बदल नहीं किया गया।

4. सामान्य लंबाई के मुकाबले छोटी कहानियाँ जिनकी बड़ी ख़ूबी उनका अत्यधिक हास्य-व्यंग्य है।
5. कई शेड्स और आयामों की प्रायः लंबी और तहदार कहानियाँ जो मैंने अपने कहानीकार के जीवन के आख़री दौर में लिखीं। इनमें रूप के भी प्रयोग हैं और वस्तु के भी। ये दरअसल मल्टीपरपज़ कहानियाँ हैं। जहाँ एक ही कहानी के माध्यम से कई बातें कहने की कोशिश की गई है। इन्हें मैं अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में गिनता हूँ।
6. चेतन की कहानियाँ—ये सभी कहानियाँ *गिरती दीवारें* के हीरो चेतन के माध्यम से कही गई हैं। इनमें कुछ बहुत मशहूर हुई हैं।" (*मेरी अफ़साना नवीसी के चालीस बरस* (उर्दू), पृ. 36-37)

अश्क जी द्वारा किया गया यह वर्गीकरण अतिव्याप्ति दोष से पूर्ण है। छोटी और बड़ी कहानियाँ वर्गीकरण का आधार नहीं हो सकतीं। दूसरे चेतन की कहानियों को अलग श्रेणी में डालना उचित नहीं क्योंकि इनमें अधिकांश यथार्थवादी कहानियाँ हैं। प्रसंगवश *मेरी प्रिय कहानियाँ* (1970) की भूमिका में 'डाची' के बाद की कहानियों को उन्होंने तीन रंगों की कहानियाँ माना था—कहानियाँ जिनमें अनुभूति के संस्पर्श के साथ कल्पना की प्रचुरता और शिल्प का गठाव है।

कहानियाँ जिनमें शिल्प का बिखराव है, जो लघुतम उपन्यासों जैसी हैं लेकिन जिनमें गहराई और व्यापकता है।

कहानियाँ जो शुद्ध हास्य की सृष्टि के लिए लिखी गई। (*मेरी प्रिय कहानियाँ*, पृ. 19)

इन सभी वर्गीकरणों के आधार पर अश्क जी की कहानियों को मुख्यतः यथार्थवादी-सामाजिक, सेक्स प्रधान मनोवैज्ञानिक, हास्य-व्यंग्यात्मक तथा बहुआयामी स्वीकार किया जा सकता है।

'डाची' अश्क जी की वह पहली कहानी है जिसे यथार्थवादी कहा गया। इसे जो लोकप्रियता प्राप्त हुई, वह आज भी अक्षुण्ण है। इसके बाद लिखी गई कहानियों में 'सभ्य-असभ्य', 'मोती', 'नन्हा', 'कैप्टन रशीद', 'काकड़ाँ का तेली', 'टेबललैंड' जैसी कहानियों का ज़िक्र किया जा सकता है। 'डाची' अश्क को अपार लोकप्रियता दे पाई, इसका मुख्य कारण इसमें ज़िन्दगी का स्पंदन है, जिसे कहानी में सुंदर ढंग से पिरो दिया गया है। यह कहानी समाज के अंतर्वैयक्तिक और अंतर्वर्गीय संबंधों का उद्घाटन करती हुई बाक़र की अनचाही व्यथा और मूक विवशता के साथ ही रज़िया की पूरी होकर भी न पूरी होने वाली लालसा से पाठकों को कुछ इस प्रकार परिचित करवाती है कि वह आर्द्र हो उठता है। पाठक केवल संवेदनशील ही नहीं होता बल्कि व्यवस्था के प्रति

आक्रोशित भी हो उठता है। अश्क की कीर्ति का मूलाधार है यह कहानी। 'सभ्य असभ्य' में लेखक ने न केवल सभ्य असभ्य का अपनी दृष्टि से अर्थ बताया है, डॉ. साहब की तमामतर सहानुभूति के बावजूद स्वयं निःसन्तान रहने की विडंबना पर प्रकाश डाला है। 'काकड़ाँ का तेली' में देहात की ग़रीबी का यथार्थ और मार्मिक चित्रण है। गाँव के लोगों की व्यथा और बेबसी का ख़ूब चित्रण इस कहानी में हुआ है। 'कैप्टन रशीद' दफ़्तर के जीवन का वास्तविक चित्रण करने वाली कहानी है। 'पत्नीव्रत' में पत्नीव्रत धर्म की परवशता को स्पष्ट किया गया है। उसके साथ-साथ धार्मिक-सामाजिक, रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों पर भी अश्क जी ने खुलकर प्रहार किए हैं। 'टेबललैंड' सांप्रदायिकता पर लिखी गई अपनी तरह की अलग कहानी है। दीनानाथ सांप्रदायिक नहीं है लेकिन तबाह शरणार्थियों के लिए वो जो रुपये और वस्त्र एकत्रित करता है, एक बीमार मुसलमान से उसकी व्यथा-कथा सुनकर उसे दे देता है। अश्क के अनुसार, "वास्तव में 'टेबललैंड' (पहाड़ के ऊपर का समतल मैदान) सांप्रदायिक भावनाओं की ऊबड़-खावड़ पहाड़ियों के मध्य मानवता की उस समतल भावना का प्रतीक है, जिसका उद्रेक अनायास ही उस यक्ष्मा के मारे कृशकाय मुसलमान बुजुर्ग की दुःख-गाथा को सुनकर दीनानाथ के हृदय में हो उठता है।" (*सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ*, पृ. 48) 'खिलौने' कहानी भी यथार्थ को व्यापक स्तर पर व्यक्त करती है। इसमें खिलौने वाला आदि कलाकार का प्रतीक बन जाता है जो खिलौने बनाकर उन पर अपना अधिकार खो बैठता है। 'बच्चे' कहानी में अश्क जी ने जीवन के इस सत्य को बड़ी सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया है कि कुछ परिस्थितियों में व्यक्ति अपना बड़प्पन भूलकर नितांत बच्चा बन जाता है। अश्क जी की ऐसी यथार्थवादी कहानियाँ जीवन के विविध-पक्षों को व्यक्त करने में पूर्णतया सक्षम हैं। उनकी अधिकांश चर्चित कहानियाँ इसी श्रेणी की हैं। अश्क जी इस बात के प्रति सचेत रहे हैं कि ये कहानियाँ स्थूल यथार्थ तक सीमित न रहें, सो पात्रों को प्रतीक बनाने का प्रयत्न किया है। यथार्थ की स्थूलता को सूक्ष्मता और व्यापकता देने के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

अश्क के संपूर्ण साहित्य में जो चीज़ सबसे अधिक मात्रा में मिलती है वह है व्यंग्य की तीखी धार जो उनकी कहानियों में भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। 'काले साहब' कहानी का तीखा व्यंग्य पाठकों के आगे अंग्रेज़ों की नक़ल में फूहड़ बनते देसी बाबुओं की असलियत खोलकर रख देता है। 'झटके' कहानी में एक अंतर्जातीय शादी के झटकों का, प्रकारांतर से कुंठाओं का वर्णन है जो उस मुहल्ले के अन्य घरों में अनुभव किए जाते हैं। 'ज्ञानी' कहानी में भी सांप्रदायिक दंगों के समय लोगों की पैशाचिक प्रवृत्ति एवं नैतिक पतन का यथार्थ मगर व्यंग्यात्मक वर्णन किया गया है। 'चारा काटने की मशीन' में भी यह मशीन भावनाहीनता को और देश विभाजन की बर्बरता को व्यक्त करती है। लहना सिंह के द्वारा लेखक ने उस समय की मानसिकता पर व्यंग्य किया है। 'छिद्रान्वेषी' आलोचक समाज पर तीखा व्यंग्य है। 'जब संतराम ने बेलना उठाया' भी

बेशक लघुकथा है—मगर अनमेल विवाह की ट्रेजिडी को व्यक्त करती है। अत्यंत सूक्ष्म संकेत के द्वारा कहानी का मूल कथ्य और व्यंग्य दोनों उभर कर सामने आ जाते हैं। व्यंग्य के साथ हास्य उत्पन्न करने वाली हल्की-फुल्की कहानियाँ भी जोड़ी जा सकती हैं। 'रोबदाब', 'नहूसत', 'क्लर्कों के मजाक', 'चैत्र शुक्ल तृतीय' जैसी कहानियों को अश्क स्थूल हास्य की कहानियाँ मानते हैं। शुद्ध हास्य की कहानियों में वे 'तकल्लुफ़', 'दलिये', 'लिरेंजाइटस', 'गली का नाम' को मानते हैं।

मनोवैज्ञानिक कहानियों के बारे में परमानंद श्रीवास्तव का कथन महत्त्वपूर्ण है, "अश्क ने अपनी कहानियों में जिस मनोवैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किया है, उसमें अनुभूति और मनोविज्ञान का सम्यक योग है, अश्क न तो यशपाल की तरह जीवन के कटु सत्य को उठा लेते हैं और न ही इलाचंद्र जोशी की भाँति मनोविज्ञान का उपयोग रुग्ण तथा क्षयी-चरित्रों की सृष्टि के रूप में करते हैं।" इस दृष्टि से अश्क की मनोवैज्ञानिक कहानियाँ अधिक संतुलित है। उन्होंने अपनी कहानियों की स्वाभाविकता को बनाए रखा है। अश्क की पहली ऐसी कहानी '*मनुष्य-यह!*' है। पूर्णतः मनोवैज्ञानिक होते हुए भी यह कहानी अंत तक स्वाभाविक है। इसमें ज़ोर नायक के मनोविश्लेषण पर है जो उसके मानसिक द्वंद्व को बहुत सुंदर ढंग से अभिव्यक्त करता है। पत्नी की मृत्यु और अपनी सुंदर साली से विवाह की ललक, आत्मभर्त्सना और कहीं अमानवीय, क्रूर समाज का अंग बनता परसराम कैसे साली के कहीं और सगाई हो जाने से निराश मगर माँ के सामने मानवीय आदर्श का प्रदर्शन करता है, इसका बड़ा ही सहज संकेत इस कहानी में है। 'अंकुर' भी ऐसे ही मनोवैज्ञानिक संकेत पर समाप्त होने वाली कहानी है। कहानी भोली-भाली सेंकरी की है जो यौन भावना और तज्जनित बेचैनी से अनभिज्ञ है। उसके अंदर सेक्स का अंकुर कैसे फूटता है और वह भोले-भाले पन से कैसे चतुर हो जाती है, इसका अत्यंत स्वाभाविक चित्रण इस कहानी में हुआ है। 'पिंजरा' में शांति की मनोव्यथा का तथा 'गोखरू' में माँ का अंतर्मंथन इतनी मार्मिकता से हुआ है कि इनकी व्यथा पाठक की व्यथा हो जाती है। साथ ही पात्रों के मनोवैज्ञानिक पहलू पर भी प्रकाश डालते हुए लेखक ने उनके परिवर्तित व्यवहार को सूक्ष्मता से उकेरा है। 'चट्टान' कहानी में भी मनोविज्ञान और सामाजिक यथार्थ का बड़ा सुंदर समन्वय हुआ है। 'चट्टान' प्रतीक भी है निर्लिप्तता का, ठंडे और खुश्क स्वभाव का। मास्टर जी और एक सीमा तक शंकर दोनों इसका प्रतीक हैं। 'भाभी' की पीड़ा और यौनजन्य तृष्णा कहानी का केन्द्रबिन्दु है। 'भाभी' की यह पीड़ा सूक्ष्मता से बुनी हुई है। चट्टान जैसा पुरुष जो अपने झूठे अहं, आत्म-वंचना और योग के खोखलेपन के कारण अपना और अपनी पत्नी का जीवन करुणामय बना देता है, इसका सुंदर वर्णन इसमें हुआ है।

सेक्सजन्य भावों को उकेरने वाली कहानियाँ मनोविज्ञान से रहित नहीं है। अश्क जी की इन कहानियों पर काफ़ी विवाद भी हुआ है। संभवतः इसलिए *पलंग* कहानी-संग्रह में लेखक को भूमिका में इन कहानियों पर विस्तार से लिखना पड़ा। यही नहीं, रणवीर

रांग्रा ने अश्क जी की सेक्सी कहानियाँ नाम से पूरा इंटरव्यू ही लिया। निस्संदेह अश्क की इन कहानियों को समझने के लिए इन दोनों स्रोतों से पर्याप्त सहायता मिलती है। इस वर्ग में 'उबाल', बेबसी, 'पलंग', 'झाग और मुस्कान', 'ठहराव' आदि को रखा जा सकता है। 'ठहराव' कहानी प्रेम के दो रूपों को व्यक्त करती है—विवाह-पूर्व प्रेम तथा विवाह के बाद एक सुहृदय, सुंदर, सुसंस्कृत पति के प्यार को। अल्हड़ता से पूर्ण यौवना नारी बनने और धीरे-धीरे अल्हड़ 'आवेग' के ठहराव में बदलने का सूक्ष्म वर्णन करने वाली कहानी है 'ठहराव'। 'बेवसी' अश्क जी की बेहतरीन कहानियों में गिनी जा सकती है। राजेन्द्र सिंह बेदी यदि इसे न भुला सकने तथा सदा 'हांट' करनेवाली कहानी कहते हैं तो ग़लत नहीं कहते। ये कहानी "इन्सान का रूप धरने वाली उस कुरूपा की अथाह बेवसी, जो एक सुंदर, सुसंस्कृत लेकिन वीमार पुरुष को चाहने लगती है" को लेकर लिखी गई है। दूसरी तरफ़ कहानी का नायक लाल है जो "किसी सुंदर युवती को पाकर चाहे डिग जाता पर उस कुरूपा के संपर्क में उसका दम घुटने लगता है। (*पलंग तथा अन्य कहानियाँ*, पृ. 176) 'वेबसी' दोनों ओर है मगर कुरूपा की बेबसी करुणाजनक है। कहानी का अंत पाठक को इस करुणा से झकझोर देता है। 'पलंग' कहानी केवल केशी की नहीं, उसकी माँ की भी है। केशी जहाँ माता-पिता के पलंग पर सुहागरात मनाते समय अपने आपको पिता और पत्नी को माँ के रूप में देखकर, अतीत की अनेक स्मृतियों से दो-चार होता हुआ अपनी इस ग्रंथि के चलते ठंडा पड़ जाता है तो उधर माँ चूँकि मनोनुकूल सुहागरात नहीं मना पाई थी, इसलिए वह अपने बेटे की सुहागसेज़ सजाकर 'वाईकेरियस' आनंद प्राप्त करना चाहती है। इन दोनों स्तरों पर चलती यह एक सशक्त कहानी है। 'झाग और मुस्कान' में लल्लन मल्होत्रा को चाहने के वावजूद बार-बार अपने उस अत्यंत कुरूप, गंदे और गँवार पति की ओर मुड़ती है जिसे वह घृणा करती है और उसके दूसरी औरत के पास जाने पर ईर्ष्या करती है तथा अपने पति को सावुन मल-मल कर नहलाने उसे अपने अनुकूल बनाने पर तैयार हो जाती है। इस कहानी में लल्लन की बेबसी को उकेरा गया है। 'उबाल' कहानी मंटो के चैलेंज में लिखी गई कहानी है। एक नौकर की यौनगत फ्रस्ट्रेशन का चित्रण इस कहानी में हुआ है।

अपने कहानी लेखन के अंतिम दौर में (1968 के बाद अश्क जी ने केवल दो कहानियाँ लिखी हैं) अश्क जी ने 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल', 'आकाशचारी', 'मरना और मरना' तथा 'अजगर' जैसी कहानियाँ लिखीं जिन्हें मल्टीपर्पज़ या बहुआयामी कहानियों का दर्जा प्राप्त है और जिन पर काफ़ी वाद-विवाद भी हुआ है। 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' पर अश्क जी ने विस्तार से *70 श्रेष्ठ कहानियाँ* में लिखा है। यह कहानी ऊपर से प्रकृतवादी लगती है—लेकिन इसके ब्यौरे कहानी का अनिवार्य हिस्सा हैं। यदि इन्हें निकाल दिया जाए तो कहानी भरभरा कर गिर जाएगी। यह कहानी कई स्तरों पर चलती है। कश्मीर के सौन्दर्य के साथ-साथ वहाँ का यथार्थ जीवन, बुर्जुआ लेखिका का इसके प्रनि आँखें मूँदे रहना और कल्पना से कहानी गढ़ना

जो यथार्थ के एकदम विपरीत है, लेखिका की असंवेदनशीलता आदि कई पक्षों को उद्घाटित करती यह कहानी अश्क साहित्य में अकेली है।

'आकाशचारी' को अश्क जी अपनी डेढ़-दो सौ कहानियों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इसका कारण बताते हुए उन्होंने दूधनाथ सिंह को दिए गए इंटरव्यू में कहा था, "जिस कहानी में आधुनिक संवेदना और भावबोध के साथ कहीं स्थूल और कहीं नितांत सूक्ष्म रूप में सोद्देश्यता और मेरा अपना वही पुराना 'कुछ भी हो, जिसे तुमने नफ़ीस क़िस्म के आदर्शवाद का नाम दिया है। साथ ही उसे रखने में कला का दामन भी हाथ से न छूटा हो—जो कहानी एक ही साथ न केवल व्यक्ति और समाज के खोखलेपन को उद्घाटित कर दे, हमारे अहं का खोखलापन उधेड़ कर रख दे, हमारी लनतरानियों, गुटबंदियों, उखाड़-पछाड़ के पीछे छिपे हमारे कुंठित अहं और भीषण संत्रास को संकेतित कर दे, वरन् जो व्यक्ति के अंतरमन की दुर्बलताओं—ईर्ष्या, द्वेष, आडंबर, झूठ, छल, प्रपंच, जन्मजात ग्रंथियों, संस्कारगत त्रुटियों, यौन विकृतियों, नपुंसकता और उसके कारण बढ़े हुए यौन भाव, अहं और महत्त्वाकांक्षा का भी निर्मम विश्लेषण और विगोपन करे—ऐसी कहानी, जो प्रेरणा के किसी संपुटित क्षण द्वारा जनित एकाग्रता से एक ही लंबी बैठक में लिखी गई हो और उसमें अपने स्वभाव के विपरीत मैंने कुछ भी न बदला हो और फिर जिसने मुझे पूरी तरह संतुष्ट भी कर दिया हो—ऐसी एक कहानी आकाशचारी के अतिरिक्त मेरे सारे साहित्य में दूसरी नहीं है।" (*कहानी के इर्द गिर्द*, पृ. 80) अश्क जी का यह बयान इस कहानी के बहुआयामी रूप को पूर्णतया स्पष्ट करने में सक्षम है। भले ही कहानी लेखिका...तथा आकाशचारी सामान्य पाठक तक पूरी तरह पहुँचने में सक्षम न हो।

'मरना और मरना' तथा 'अजगर' (अश्क जी की अंतिम प्रकाशित कहानी) भी विवादास्पद रहीं। 'मरना और मरना' दो मुसाफ़िरों के माध्यम से शारीरिक और मानसिक मृत्यु को एक साथ प्राप्त होने की कथा है जिसे अत्यंत सूक्ष्मता से अश्क जी ने बुना है। 'अजगर' में एक पैरासाइट की कहानी है—लेकिन इस कहानी में मात्र इतनी-सी बात नहीं है। 'अजगर' की नियति के साथ-साथ इस कहानी में भाई साहब, भाभी और नायक की बीवी के माध्यम से लेखक ने कई मनोवैज्ञानिक तथ्यों को भी साथ में पिरो दिया है। प्रकाशित होने के बाद इस कहानी पर जो शोर हुआ, उसके बाद अश्क ने कहानी लिखना ही छोड़ दिया।

यहाँ अश्क जी की लघु-कथाओं का ज़िक्र करना भी आवश्यक है क्योंकि आज लघु-कथा ने न केवल स्वतंत्र विधा का रूप धारण कर लिया है बल्कि इसके कई स्वतंत्र-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अश्क जी ने जब 1929 में अपनी पहली लघु-कथा 'जादूगरनी' लिखी थी तब लघु-कथा को स्वतंत्र विधा का रूप नहीं मिला था और न ही इसके पत्रिकाओं में विशेषांक निकलते थे। उस समय लघु-कथा का अर्थ अश्क जी की दृष्टि में, "बारह-पंद्रह पंक्ति की कहानी से लेकर पुस्तक के तीन-चार पृष्ठों तक की

कहानियाँ।" (*सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ*, पृ. 53) अश्क जी ने पच्चीस के लगभग लघु-कथाएँ लिखीं हैं। अपनी लघु-कथाओं पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं, "मेरी पहली लघु-कथा रोमानी थी, फिर यथार्थवादी, फिर व्यंग्यपूर्ण, फिर हास्य-रस-भरी। जैसे-जैसे मेरी कहानियों की शैली बदलती गई, मेरी लघु-कथाओं की वस्तु और शैली भी बदलती गई।" (वही, पृ. 54) अश्क जी की प्रसिद्ध लघु-कथाओं में 'अमर खोज', 'नमक ज़्यादा है', 'केवल जाति के लिए', 'शादी', 'गिलट', 'भाई', 'संवाददाता', 'आर्टिस्ट', 'बगुले', 'फ़तूर', 'जब संतराम ने बेलन उठाया', 'छिद्रांवेषी', 'आ लड़ाई आ', 'ज्ञानी' का नाम लिया जा सकता है। हिन्दी के प्रारंभिक लघु-कथाकारों में अश्क जी का नाम निश्चित रूप से लिया जा सकता है। इन रचनाओं में लघु-कथा के वे सब गुण विद्यमान हैं, जो इन्हें लघु कथाएँ बनाते हैं।

अश्क जी की कहानियों पर दृष्टिपात करने पर कुछ बातें स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती हैं। पहली कहानी 'याद हैं वो दिन' से लेकर अंतिम प्रकाशित कहानी 'अजगर' तक का यदि ग्राफ़ बनाना हो तो बिना किसी संकोच से ये ग्राफ़ ऊर्ध्वमुखी होगा। अश्क की कहानी कला उत्तरोत्तर विकासशील रही है। स्थूलता से संकेतों, प्रतीकों से कहानी को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करते हुए अश्क जी ने हिन्दी को 'डाची', 'काकड़ाँ का तेली' जैसी कहानियों के साथ-साथ, 'कहानी लेखिका और...' तथा 'आकाशचारी' जैसी कहानियाँ भी दी हैं। इन उदाहरणों से एक बात और प्रकट होती है। अश्क जी ने एक ही रंग की, शिल्प और शैली की कहानियाँ नहीं लिखी। इस संदर्भ में स्वयं अश्क जी का अपना कथन द्रष्टव्य है, "किसी एक रंग में आठ-दस कहानियों से ज़्यादा मैंने कभी नहीं लिखी।" (*कहानी के इर्द गिर्द*, पृ. 55) संभवतः इसलिए अश्क के यहाँ एकरसता और दोहराव दिखाई नहीं पड़ता। इस दृष्टि से अश्क जी ने स्वयं को सदा ताज़ा रखा है। अपने समाज के यथार्थ का स्पष्ट उद्घाटन करने के साथ-साथ उन्होंने व्यक्तिमन की सूक्ष्म गुत्थियों पर भी प्रकाश डाला है। 'डाची', 'बैंगन का पौधा', 'झटके', 'बेबसी', 'अजगर' आदि का शिल्पगत वैविध्य तभी उनके यहाँ है। अश्क के उपन्यासों पर लगाया जानेवाला आरोप उनकी कहानियों पर नहीं लगाया जा सकता। डॉ. बच्चन सिंह का कहना इस दृष्टि से द्रष्टव्य है, "विषय के अनुकूल सजीव, व्यंग्य-विनोदपूर्ण और संवेदनशील भाषा के प्रयोग में अश्क अद्वितीय हैं। आवश्यकतानुकूल काट-छाँट और तराश की कला में माहिर होने के कारण उनकी गणना इने-गिने शिल्पियों में होगी। प्रतिभा-संपन्न कलाकार होने के साथ-साथ अश्क परिश्रमी कलाकार भी हैं। प्रतिभा और परिश्रम का संयोग, जो विरले कलाकारों में दिखाई देता है, अश्क की कला को चार-चाँद लगा देता है।" (*सप्त सिन्धु—अश्क स्वर्ण जयन्ती विशेषांक*, पृ. 124)

अश्क जी ने हमेशा अपने अनुभूत सत्य पर बल देते हुए कला के लिए सिद्धांत की आलोचना की है। सोद्देश्यता उनके संपूर्ण साहित्य का आधार है। अपनी कहानियों

के उद्देश्य के बारे में उन्होंने कहा है, "1933 से 1936 तक की कहानियों को छोड़ दूँ (जिन अपरिपक्व वर्षों में मैं सिर्फ़ कला के लिए कला की साधना करता रहा) तो मैं कह सकता हूँ मेरी हर कहानी में कोई-न-कोई उद्देश्य निहित रहा है, वह उद्देश्य सामाजिक ही है, यह कहना मुझे कठिन लगता है। हाँ, यदि व्यक्ति को समाज का अंग मान लिया जाए तो उन कहानियों में भी सामाजिक उद्देश्य ढूँढा जा सकता है, जिनमें मैंने प्रकटतः व्यक्ति का चित्रण किया है और परोक्षतः समाज की बात की है।" (*आमने सामने*, पृ. 102) अश्क जी की अंतिम कहानी तक में यह बात देखने को मिल जाती है। इस सोद्देश्यता के होते हुए भी अश्क जी किसी सिद्धांत, वाद या विचार से बँधे नहीं हैं। उनके ही शब्दों में, "मेरी कहानियों में हमेशा एक ही दृष्टि, विचार या सिद्धांत प्रतिपादित नहीं हुआ। समय-समय पर भिन्न विचार या सिद्धांत मेरी कहानियों में प्रतिपादित हुए हैं, लेकिन दूधनाथ सिंह ने जिस चीज़ को मेरा एक नफ़ीस किस्म का आदर्शवाद कहा था, वह प्रकट या परोक्ष रूप से मेरी सभी कहानियों में मौजूद है।" (*आमने सामने*, पृ. 103) अश्क जी का यह कथन भी उनके यहाँ दिखाई देने वाले वैविध्य को प्रकट करता है।

प्रारंभिक कहानियों को छोड़कर अश्क जी की कोई कहानी यथार्थ से असंपृक्त नहीं रही—वो चाहे प्रतीकों और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म संकेतों से संपन्न क्यों न रही हो। उनकी यथार्थवादी दृष्टि सदा अपने पाँव ज़मीन पर जमाए रखती है। क्योंकि अश्क जी का मानना है कि "ज़िन्दगी नाम है चाँद को चाहना छोड़, धरती को चाहने का—समग्र रूप से इसे चाहने और बेहतर बनाने का" (*हिन्दी कहानियाँ और फ़ैशन*, पृ. 125) यह बात अश्क जी के संपूर्ण साहित्य का केन्द्र बिन्दु है।

अतः अश्क की कहानी-कला अपनी अंतिम प्रकाशित कहानी तक उत्तरोत्तर अत्यंत संश्लिष्ट, सूक्ष्म और कलात्मक होती चली गई है। अपने जीवन काल में कहानी के कई दौर अश्क जी ने देखे—वो प्रगतिवादी कहानी हो, नई कहानी हो, अकहानी, सचेतन या समांतर कहानी हो—अश्क जी ने अपनी रविश नहीं बदली। काल्पनिक रूमानी कहानियों से शुरू हुआ उनका अपना सफ़र यथार्थवादी, मनोवैज्ञानिक, सेक्सजन्य सूक्ष्म मनोभावों से होता हुआ बहुआयामी संश्लिष्ट कहानियों तक पहुँचता है। हिन्दी के सहधर्मी रचनाकारों और आलोचकों ने अपने पूर्वाग्रह के कारण भले ही अश्क जी की रचनाओं की उपेक्षा की हो लेकिन कहानी में उनके योगदान को यूँ नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

नाटककार / एकांकीकार अश्क

हिन्दी में अश्क जी का नाम उन नाटककारों-एकांकीकारों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने हिन्दी नाटक और एकांकी को 'पाठ्य' पुस्तक से निकालकर सीधे रंगमंच से जोड़ा। अश्क जी ने तो एक क़दम और आगे बढ़कर इन्हें ऐतिहासिक, पौराणिक कथाओं से सर्वथा मुक्त करके सीधे-सीधे अपने समाज से संपृक्त किया और, "उनमें समाज के मिथ्याचार, धूर्तताओं, रियाकारियों और झूठ" का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है। इस दृष्टि से अश्क जी का नाटककार और एकांकीकार के रूप में दोहरा योगदान है। हिन्दी का अन्य कोई रचनाकार ऐसा नहीं है जो इतना प्रतिवद्ध होकर सृजनरत हुआ हो। यहाँ यह बात लिखना बेजा न होगा कि एकांकी का समर्थन करते हुए सन् 1938-39 के आस-पास *हंस* में चंद्रगुप्त विद्यालंकार और जैनेन्द्र का विरोध करने का साहस केवल अश्क जी में ही था। एकांकी के पक्ष में उन्होंने लेख भी लिखे और अपने एकांकियों के सफल मंचन से हिन्दी के रंगमंच को बनाने में जो योगदान उन्होंने दिया, वह अविस्मरणीय है। इसी बात को लक्षित करते हुए जगदीश चंद्र माथुर ने कहा था, "समकालीन नाटककारों में शायद अश्क ही ने स्पष्ट रूप से प्रसाद के बाद रंगमंच और साहित्य दोनों के मापदंड पर सही उतरने वाले नाट्य-साहित्य को प्रस्तुत किया। *(नाटककार अश्क, पृ. 13)* यह एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बात है जिसके बिना हिन्दी नाटक की बात ही नहीं की जा सकती।

डॉ. बच्चन सिंह का कहना है, "अश्क पहले नाटककार हैं जिन्होंने हिन्दी नाटक को रंगमंच से संबद्ध किया है और उसे रोमांस के कटघरे से निकालकर आधुनिक भावबोध के साथ जोड़ा।" हिन्दी नाटक के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में यदि देखा जाए तो डॉ. बच्चन सिंह का कथन पूर्णतया सत्य प्रतीत होता है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—एक अश्क की यथार्थ दृष्टि जो इतिहास का सहारा लिए बिना ज़िन्दगी का चित्रण सीधा करना पसंद करती है। इस संदर्भ में अश्क जी का कहना है, "मेरे अपने विचार में आज हमें सामाजिक नाटकों की ज़्यादा आवश्यकता है।" *(स्वर्ग की झलक : भूमिका)*। अश्क जैसा यथार्थवादी इसके अतिरिक्त कोई और बात कह भी नहीं सकता। दूसरे स्वयं अश्क रंगमंच से जुड़े रहे हैं, स्वयं अभिनय करते रहे हैं, इसलिए नाटक को रंगमंच से जोड़े बिना वह इसकी रचना कर ही नहीं सकते। कॉलेज के दिनों में तो रंगमंच पर वे अभिनय करते ही थे, जब फ़िल्म जगत में गए तो 'मज़दूर' और 'आठ दिन' में संवाद लेखन के साथ अभिनय भी किया। बक़ौल अश्क, "यदि उस दलदल से निकल

न आता तो कन्हैयालाल या सुंदर, आग़ा या मुकरी, ऐसा अच्छा-खासा हास्यरस का एक्टर प्रसिद्ध हो जाता।" कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक को सार्थकता रंगमंच ही प्रदान करता है और इसके लिए नाटककार का सजग होना ज़रूरी है। अश्क इसके प्रति सजग रहे हैं। नाटक और रंगमंच के प्रति उनकी दृष्टि साफ़ है, अतः वे मानते हैं, "नाटक मुख्यतः खेलने की चीज़ है। इसको लिखते समय नाटककार के लिए रंगमंच की आवश्यकताओं का ध्यान रखना नितांत आवश्यक है।" (*जय पराजय*, पृ. 5)

रंगमंच से इसी यथार्थ संपर्क के कारण अश्क ने अपने पहले नाटक *जय पराजय* (1937) के बाद पुनः वैसा ऐतिहासिक नाटक न लिखने का फैसला किया। अयथार्थ और काल्पनिकता के कारण अश्क ने भले ही पुनः वैसा नाटक न लिखा हो लेकिन उसकी गणना हिन्दी के श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों में होती है। राजस्थान की पृष्ठभूमि पर रचे गए इस नाटक की कथा 'टाड राजस्थान' तथा गौरीशंकर हीराचंद ओझा की पुस्तक से ली गई है। गोपाल कृष्ण कौल का मानना है कि इस नाटक में अश्क की दृष्टि सामंतयुगीन नैतिकता, आदर्शवादिता और मर्यादा तथा व्यक्तिगत अहं भावना के व्यंग्यात्मक उद्घाटन पर रही है। साथ ही अश्क ने राजकुमार चंड, भारमली और राघवदेव जैसे आदर्श पात्रों की सृष्टि की। संभवतः इसलिए डॉ. नगेन्द्र ने भारमली को प्रसाद की देवसेना (*स्कंदगुप्त*) तथा मालविका (*चंद्रगुप्त*) के समकक्ष रखा। लेकिन अश्क जी को यह आदर्शवादिता पसंद नहीं रही। "आदर्श से प्रेरणा मिलती है, इसमें संदेह नहीं, लेकिन जब पाठक काल्पनिक आदर्श पर आगे बढ़ता है और यथार्थ के स्पर्श से उसकी आँखें खुलती हैं तो निराशा भी कम नहीं होती। और वह निराशा ऐसी कुंठा को जन्म देती है और कई बार ऐसी तीव्र प्रतिक्रिया पैदा करती है कि मानव दूसरे छोर पर जा पहुँचता है। (*उपन्यासकार अश्क*)। अश्क जी के साथ कुछ ऐसा ही हुआ। जीवन के कटु यथार्थ ने उन्हें जो दृष्टि दी उसी का विस्तार उनके आगे के सभी नाटकों एवं एकांकियों में मिलता है।

अश्क ने अपने सामाजिक नाटकों के लिए कथावस्तु का चुनाव अपने चिर-परिचित निम्न-मध्यवर्ग से किया है। स्वयं इस वर्ग से होने के कारण अश्क इन लोगों की विभिन्न समस्याओं, कठिनाइयों से भली-भाँति परिचित हैं। अपने नाटकों की मूल कथा वस्तु की प्रेरणा का उल्लेख अश्क ने 'मैं नाटक कैसे लिखता हूँ' नामक एक लेख में बड़े ही सुंदर और स्पष्ट ढंग से किया है। इस संदर्भ में उनका कथन है, "शेरों, गीतों और सुंदर दृश्यों के अतिरिक्त कई बार मनोरंजक पात्र भी मुझे नाटक लिखने की प्रेरणा देते हैं। *छठा बेटा* सौ पृष्ठ का यह नाटक मैंने एक पात्र ही को देखकर लिखा। इसी प्रकार 'भँवर' और 'चुंबक' विभिन्न पात्रों के किसी-न-किसी नाटकीय पक्ष ही का चित्रांकन करते हैं।" (*नाटककार अश्क*, पृ. 344) चरवाहों के सरल, स्वतंत्र गीत ने अश्क जी को *चरवाहे* लिखने की प्रेरणा दी तो ग़ालिब के *कैद-ए-हयात-ए-बंद-ए-ग़म* शेर ने क़ैद नाटक की ट्रेजडी का रूप धारण कर लिया। एक पिता की बीमार लड़की ने 'चिलमन' एकांकी की

प्रेरणा दी तो दिल्ली की तीन लड़कियाँ 'भँवर' की प्रतिभा का रूप धारण कर गईं। अपने मूलभूत विचार में 'प्रीतनगर' से इक्के में साथ आईं दो वृद्ध मुसलमान स्त्रियों के वार्तालाप से अश्क जी ने उन्हें 'छठा बेटा' में फिट कर दिया। 'अंजो दीदी' अपनी पत्नी की कुछ आदतों से चिढ़कर लिखा। अश्क जैसा यथार्थवादी अपने पात्र जीवन से ही उठा सकता है।

स्वर्ग की झलक (1938) अश्क का पहला सामाजिक नाटक है। इसमें आधुनिक शिक्षा के परिणामस्वरूप मध्यवर्गीय परिवारों में बढ़ती फ़ैशनपरस्ती, प्रदर्शनप्रियता तथा दायित्वहीनता के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप दांपत्य जीवन में असंतुलन का यथार्थ और व्यंग्यपूर्ण चित्र खींचा गया है। यह व्यंग्य उन आत्म-भीरु युवकों पर भी है जो अपनी आधुनिकता के प्रभाव में फँसी पत्नियों से घबराकर या तो आत्मसमर्पण कर देते हैं या शिक्षित नारियों से दूर भागते हैं। रघु का नाटक के अंत में रक्षा को स्वीकार करना परंपरा का समर्थन नहीं है। नाटककार का ज़ोर संतुलन पर है जो उच्च शिक्षा प्राप्त अहंवादी नारी नहीं रख सकती। उच्च शिक्षा को भी संतुलित ढंग से ग्रहण करना आवश्यक है। स्वयं अश्क इस नाटक को संकलन-त्रय की दृष्टि से सफल नहीं मानते।

छठा बेटा का गठन अधिक संतुलित है। इस नाटक में अश्क रंगमंच और शिल्प की दृष्टि से अधिक सजग और सफल दिखाई पड़ते हैं। इस नाटक की समस्या आधुनिक जीवन में कमोबेश सभी परिवारों की है। मनुष्य की अतृप्त अभिलाषा जो कभी पूरी नहीं होती, इसी की कलात्मक नाटकीय प्रस्तुति है यह नाटक। आधुनिक जीवन में अर्थयुग की व्यावसायिक प्रवृत्ति ने पारिवारिक संबंधों को जो आघात पहुँचाया है, उसका यथार्थ संकेत भी यह नाटक देता है। आशानंद बोहरा का मानना तो यहाँ तक है कि मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन का जैसा सफल चित्रण यहाँ हुआ है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। स्वप्न के माध्यम से लेखक ने अपने उद्देश्य की पूर्ति की है। इस स्वप्न का मंच पर प्रस्तुतीकरण यथार्थ के धरातल पर किया गया है जिसके परिणामस्वरूप यह नाटक अश्क की व्यंग्य शैली और त्रासदी दोनों को सशक्तता से व्यक्त करने में पूर्णतया सफल रहा है।

क़ैद (1943-45) एक दुखांतकी है जिसके बारे में जगदीश चन्द्र माथुर ने कहा था कि यदि उन्हें अपना कोई प्रिय एकांकी चुनने के लिए कहा जाए तो वे *क़ैद* को चुनेंगे और डॉ. धर्मवीर भारती ने कहा, "कैद में तो इतनी सूक्ष्म पच्चीकारी और इतने विराट संकेत हैं कि उनकी गिनती हिन्दी के सबसे सफल नाटकों में की जानी चाहिए।" नारी जीवन की बेबसी को प्रकट करनेवाला यह नाटक आज भी मध्यवर्गीय त्रासदी कि माता-पिता

बेटी का मन जाने बिना उसे विवाह की बेदी पर बिठा देते हैं, का यथार्थ वर्णन करता है। गोपाल कृष्ण कौल का मानना है कि "सौन्दर्य के आलोक में सामाजिक जीवन के घुटन से भरे अँधेरे पहलू को इस नाटक में लेखक ने इस तरह उपस्थित किया है कि सुंदरता का आलोक भी ग़म के तम से घिरने सा लगता है।" (*नाटककार अश्क*, पृ. 210) अप्पी (अपराजिता) की घुटन, अनेक मध्यवर्गीय नारियों की घुटन है जिन्हें दांपत्य जीवन निभाना भर होता है और इसी में तमाम उम्र व्यतीत हो जाती है। कला की दृष्टि से यह एक अत्यंत सफल नाटक है।

लौटता हुआ दिन क़ैद का ही परिवर्तित रूप है, जिसे सत्रह-अठारह वर्ष बाद अश्क ने पुनः लिखा क्योंकि *क़ैद* में कुछ त्रुटियाँ उन्हें दिखाई दी। अश्क के शब्दों में *लौटता हुआ दिन* मेरे नाटक कैद का संशोधित, परिवर्तित, किंचित् परिवर्धित, कहूँ कि शुरू से लेकर अंत तक दोबारा लिखा गया, नया वर्जन है और चूँकि इस प्रक्रिया में इसके आधारभूत विचार में बहुत ही सूक्ष्म, लेकिन यक़ीनी अंतर आ गया है, इसलिए मैंने इसका नाम भी बदल दिया है।" (*लौटता हुआ दिन*, पृ. 17)

दोनों की कथावस्तु में कोई विशेष अंतर नहीं है। संवादों में कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। अप्पी के दुःख को कहीं सांकेतिक कर दिया गया है। *कैद* में कुंतल और पति गोपाल का केवल परामर्श है लेकिन इस नाटक में दोनों नए पात्र बनकर आते हैं। 1962 का यह नाटक निस्संदेह *क़ैद* से बेहतर है।

यही स्थिति *उड़ान* की भी है जो उर्दू *शिकारी* का हिन्दी रूप है। *शिकारी* में कथा की धुरी शंकर है जबकि *उड़ान* में माया। *शिकारी* में माया कमज़ोर है जबकि 'उड़ान' में माया एक निर्भीक, आत्मविश्वास से पूर्ण युवती है। *उड़ान* (1943-45) *क़ैद* का विरूप है। *क़ैद* में जहाँ परंपराग्रस्त जीवन में नारी की छटपटाहट का वर्णन है, *उड़ान* में यही नारी आधुनिक जीवन के प्रभावस्वरूप व्यक्ति स्वातंत्र्य की माँग करती है। पुरुष की अधिकार लोलुपता का निषेध करती हुई वह उन्मुक्त-सी अकेली ही जीवन का समाधान खोजने के लिए निकल पड़ती है। यहाँ माया दासी, खिलौना या देवी होने से इनकार करती है। *क़ैद* में जहाँ अपराजिता कहती है, "हम ग़रीबों का क्या है, माता-पिता ने जहाँ बिठा दिया वहीं जा बैठीं।" *उड़ान* में वहाँ माया कहती है, "वह असहाय अबला स्त्री मैं नहीं, जिसे मदन चाहता है और जो हर समय पुरुष के सहारे की आशा बाँधे, दासी की तरह खड़ी रहती है। वह बीमार हिरनी भी मैं नहीं, जिसे तुम लोग गोद में भरकर मनमानी करना चाहते हो...मैं देवी भी नहीं, जो केवल अपने आसन पर बैठी रहे। तुम एक दासी, खिलौना या देवी चाहते हो...(*क़ैद* और *उड़ान*, पृ. 152-153)।" स्पष्ट है कि नाटककार नारी को पुरुष की संगिनी के रूप में देखना चाहता है दासी (मदन) खिलौना (शंकर) या देवी (रमेश) के रूप में नहीं। "रंगमंच की दृष्टि से *क़ैद* ही की तरह *उड़ान*

भी प्रभावोत्पादक है। इसमें एक तरह से लिरिक (गीति काव्य) जैसा सरल गठाव है।" (*गोपाल कृष्ण कौल : नाटककार अश्क,* पृ. 228)

अंजो दीदी 1943 में लिखना शुरू हुआ था। दो अंकों में रचित यह नाटक काफ़ी चर्चित रहा। कुछ इसलिए भी कि स्वयं अश्क जी ने यह नाटक अपनी पत्नी को सामने रखकर लिखा। इसमें अभिजात कुल की नारियों की सनक, सफ़ाई, अनुशासनप्रियता, नियमबद्ध जीवन आदि के रूप में अंजली को प्रस्तुत किया गया है। यह अनुशासन और नियमबद्धता व्यक्ति को मशीन बनाकर रख देती है और अश्क इसके विरुद्ध हैं। वह इस पाश्चात्य अंधानुकरण के खिलाफ हैं। दुष्यंत कुमार का कहना है, "*अंजो दीदी* में अश्क ऐसी परिस्थिति और वातावरण प्रस्तुत कर देते हैं कि कुरीति अत्यंत बेढंगी और कुरूप लगने लगती है—उसके अपनाने वाले हास्यास्पद से जान पड़ते हैं और बरबस उन पर हँसी आती है।" (वही, पृ. 237) दो अंकों और तीन-तीन दृश्यों में विभाजित यह नाटक रंगमंच की दृष्टि से अत्यंत सफल रहा है।

पैंतरे (1952) में अश्क जी ने अन्य नाटकों से हटकर अपने उन अनुभवों को आधार बनाया है जिन पर उन्होंने विशेष कुछ नहीं लिखा था। इलाहाबाद में अपने विभिन्न मित्रों के पास रहते हुए मकान की समस्या से संबंधित जीवनानुभवों पर पहले उन्होंने 'तकल्लुफ़' कहानी लिखी। फिर 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' और अंततः *पैंतरे* नाटक लिखा। इसमें उन्होंने अपने फ़िल्मी जीवन के अनुभवों को भी पिरो दिया है। इस नाटक में मध्यवर्गीय पात्रों को मकानों की तंगी के कारण किस-किस प्रकार के पैंतरे प्रयोग में लाने पड़ते हैं, उसकी झाँकी है साथ ही फ़िल्मी जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत कर उनकी दुर्दशा का संवेदनशील चित्र प्रस्तुत किया है। यह एक हास्य और व्यंग्य प्रधान नाटक है जिसे तीन अंकों में प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक अंक में दो दृश्यों का विधान है। गोपाल कृष्ण कौल का कहना है, "यह नाटक हिन्दी साहित्य में शिष्ट हास्य और यथार्थवादी व्यंग्य से ओत-प्रोत बड़े प्रहसन का अद्वितीय उदाहरण है। नाटक के हास्य व्यंग्य में एक करुण वेदना भी निहित है जो अंतर्मन को उद्वेलित करने में समर्थ है। ऊपर का हास्य और व्यंग्य और पात्रों की चातुर्यपूर्ण पैंतरेबाज़ी अपने अंदर वर्तमान समाज की दारुण बेबसी और मानवीय दैन्य का रुदन छिपाए हुए है।" (*नाटककार अश्क,* पृ. 256) संभवतः इसीलिए अश्क के सभी नाटकों में यह नाटक एक अलग पहचान और महत्त्व रखता है।

अलग-अलग रास्ते (1944-53) नाटक के बारे में अश्क जी का कहना है, "*अलग-अलग रास्ते* 1943 में आदिमार्ग के नाम से एकांकी रूप में लिखा गया था। लेकिन उसमें

अपूर्णताएँ थी और उसका मूलभूत विचार एक बड़े नाटक की अपेक्षा रखता था।" अपने इस नाटक को वे 'सच्चे अर्थों में आधुनिक नाटक' मानते हैं क्योंकि इसमें ही संकलन त्रय का संपूर्ण संयोजन करने में सफल हुए। आशा नंद बोहरा ने इसे हिन्दी नाटक का मील का पत्थर माना है तो गोपालकृष्ण कौल ने इसे हिन्दी नाटक के विकास की एक महत्त्वपूर्ण मंज़िल ही नहीं माना बल्कि हिन्दी में रंगमंच वस्तु और रूपविधान के विकास का एक सीमाचिह्न भी स्वीकार किया है। इस नाटक में भी अश्क जी ने प्रेम और विवाह की समस्या को मुख्य विषय बनाया है। समाज में पुरुष के सामने स्त्री का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, उसे सदा आदर्श जीवन और संस्कार के नाम पर अपने अधीन रखा गया है। इस नाटक में नारी के दोनों रूपों—पुराने संस्कारों और नवीन सामाजिक चेतना को राजा और रानी के माध्यम से पूरी तरह उभारा गया है। नाटक के अंत में रानी का पिता के घर को त्यागना वस्तुतः पुराने संस्कारों और रूढ़िवादिता को त्यागना है। पूरा नाटक एक इतवार की कथा है जिसे तीन अंकों में क्रमशः सुबह, दोपहर और शाम के द्वारा प्रदर्शित करके एक ऐसा गठन प्रदान किया गया है कि नाटक एक तीव्र प्रवाह की भाँति बहता चला जाता है। यह एक गंभीर नाटक है जिसमें अश्क के अन्य नाटकों का-सा हास्य व्यंग्य कम देखने को मिलता है।

भँवर को मैं अश्क जी का सर्वाधिक संश्लिष्ट एवं मनोवैज्ञानिक धरातल पर अत्यंत सूक्ष्म नाटक मानता हूँ। इसका मुख्य कारण शायद यह है कि नाटककार ने प्रत्यक्ष जीवन में देखी तीन लड़कियों को प्रतिभा में एकमेक कर दिया है। सारा नाटक प्रतिभा के इर्द-गिर्द घूमता है। प्रतिभा जैसे संश्लिष्ट पात्र को अश्क ने अपनी अंतरदृष्टि और विवेचन शक्ति के बल पर बोधगम्य बना दिया है, यही इस नाटक की सबसे बड़ी सफलता है। डॉ. पी. जे. शिवकुमार ने *भँवर* को आकर्षण का प्रतीक माना है। इसी आकर्षण में फँसकर वह स्वयं को स्थिर नहीं कर पाती। *भँवर* वस्तुतः असमंजस या अस्थिरता का प्रतीक है क्योंकि वहाँ कोई ठोस भूमि नहीं है। प्रतिभा उच्च शिक्षा और बौद्धिकता के कारण ही अपने प्रेमी से विवाह के बाद शीघ्र अलग हो जाती है। प्रो. नीलाभ, प्रो. ज्ञानचंद, हरदत्त, जगन जैसे लोग उसके इर्द-गिर्द हैं। वह इन लोगों के बारे में कहती है, "जिन लोगों से मेरी संगति है, वे सब-के-सब इंटेलेक्चुअल हैं।" (*भँवर*, पृ. 81) इन्हीं के द्वारा वह अपना शून्य भरना चाहती है, मगर भँवर की-सी स्थिति से मुक्त नहीं हो पाती। दुष्यंत कुमार ने ठीक ही लिखा है कि यह नाटक समस्या प्रधान न होकर चित्रण एवं विश्लेषण प्रधान है। पात्रों के अंतस्तल का अंतर्द्वंद्व दिखाने में अश्क को गाल्सवर्दी-सी सफलता मिली है। इस नाटक में अश्क जिस रूप में सामने आते हैं, उसका विवेचन करते हुए दुष्यंत कुमार लिखते हैं, "*भँवर* के सारे वातावरण पर एक सहज गांभीर्य की छाया मँडराती रहती है, जिसका संचालन जैसे किसी पर्दे की ओट से स्वयं प्रतिभा करती है। वह मुस्कराती है

तो वातावरण में चाँदनी छिटक जाती है, वरना वही बोझिल-सी उदासी, ऊब और घुटन। अश्क के नाटकों के पाठकों को *भँवर* के माध्यम से अश्क के एक नए रूप का परिचय मिलता है। हिन्दी में नाटककार अश्क अपने चुटीले-तीखे व्यंग्य और उन्मुक्त हास्य के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु *भँवर* में अश्क हमारे सम्मुख विचारक और समाजशास्त्री के रूप में आते हैं।" (*नाटककार अश्क,* पृ. 243-44) प्रतिभा को अपनी मानसिक कुंठाओं, दमित वासनाओं (सेक्स) के साथ एक बौद्धिक स्त्री के रूप में प्रस्तुत करने में अश्क पूरी तरह सफल रहे हैं। रंगमंच की दृष्टि से भी यह नाटक पूर्णतया सफल है।

इस नाटक के वर्षों बाद *बड़े खिलाड़ी* (1967) का प्रकाशन होता है। बकौल अश्क, "*बड़े खिलाड़ी* मेरा ग्यारहवाँ नाटक है और मैंने इसमें फिर शहरी निम्न-मध्यवर्ग की एक गली के घरेलू जीवन से एक सीधी-सादी घटना को उठाया है। इसमें दो बहन-भाइयों की कहानी है, जो अपनी महत्त्वाकांक्षा में कुछ अतिरिक्त चतुराई से काम लेते हैं और अपने निम्न-मध्यवर्ग गत ओछेपन के कारण 'छुद्र नदी भरि चलि उतराई' को चरितार्थ करते हुए रस्सी को इतना बल दे देते हैं कि वह टूट जाती है। उनकी इसी अतिरिक्त चतुराई से लाभ उठाकर उनके चंगुल में फँसने वाली लड़की का भाई हरीश अपनी बहन को बचा ले जाता है।" (*बड़े खिलाड़ी,* पृ. 29)। सुजला के माध्यम से पुनः अश्क ने *कैद* की अप्पी की भाँति निम्न-मध्यवर्ग में अपनी बेबसी भरी चुप्पी से लड़कियाँ कैसे अपनी ज़िन्दगी बर्बाद कर सकती हैं, इसका स्पष्ट अंकन किया है। सुजला अपने माँ-बाप के निर्णय के आगे बोल नहीं पाती—परिणामतः अंदर-ही-अंदर घुटती है। उसके मौन को हरीश ही विद्रोह की वाणी देता है, वही उसे बचा भी लेता है। इस संदर्भ में सुजला के संवाद दृष्टव्य हैं, "हम ग़रीबों का क्या है। जो भाग्य में है, उसके आगे सिर नवाने में ही कल्याण है।" (*नए खिलाड़ी,* पृ. 66) सुजला की यह सोच प्रायः सभी निम्न-मध्यवर्गीय लड़कियों की है। अश्क जी ने सुजला के ही माध्यम से एक अत्यंत सटीक और महत्त्वपूर्ण बात भी कही है। एक स्थल पर सुजला नए ज़माने की वास्तविकता उजागर करते हुए कहती है, "ज़माना इसलिए नया नहीं कहा जा सकता कि इस सड़ी-मरी गली में भी स्कूटर और मोटरसाइकल और फ्रिज़ आ गए हैं। घर-घर जाकर देख लो, अब भी हम वही पुराने गुलाम हैं—छिछोरे, असभ्य, दक़ियानूसी और कट्टरपंथी। मैं नहीं कहती, हमारे माँ-बाप हमसे प्यार नहीं करते, वो अपनी लड़कियों को मोटरें देते हैं, मकान देते हैं, फर्नीचर और हज़ारों का दूसरा सामान देते हैं, वह सब इसलिए न कि उनकी लाडली बेटियों को कोई तकलीफ़ न हो, वे सुख से रहें। लेकिन वो हज़ारों रुपये अपनी लाडलियों के लिए ख़र्च कर देंगे, बस उन्हें अपने मन का साथी नहीं चुनने देंगे। और हम अपने माँ-बाप के इस सरासर अन्याय के विरुद्ध आवाज़ तक नहीं उठा पातीं।" (*बड़े खिलाड़ी,* पृ. 129-130) निम्न-मध्यवर्ग का आज भी यही सच है। तीन अंकों में रचित यह नाटक

भी अपनी रंगमंचीय निपुणता के कारण पूर्णतया सफल है। एक सीधी-सादी कथा को सहज ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इनके अलावा अश्क जी चार अप्रकाशित नाटक भी छोड़ गए हैं—*विद्रोही, एक और कालिदास, आँधियाँ बोनेवाले* और *स्नो व्यू*।

अश्क जी के सभी नाटकों की कुछ विशेषताएँ बरबस अपनी ओर ध्यान खींचती हैं। अश्क के सभी नाटक और *जय पराजय* भी किंचित् परिवर्तन के साथ—रंगमंचीय हैं। हिन्दी में पाठ्य नाटकों की कोई कमी नहीं है। अश्क के नाटक सफलता से खेले जा सकते हैं, खेले जाते रहे हैं। अश्क का रंगमंच यथार्थवादी रंगमंच है क्योंकि उनकी दृष्टि सदा यथार्थ पर टिकी रही है। अपने नाटकों की वस्तु उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन से चुनी। विवाह, प्रेम, रूढ़िवादी दृष्टिकोण, संस्कारों का दासत्व, बार-बार अश्क को कहीं कारुणिक और कहीं व्यंग्य के पैनेपन से प्रहार करने पर बाध्य करता है। इस दृष्टि से जयनाथ नलिन का कहना बिल्कुल ठीक है कि "अश्क मन की बहुत गहरी पर्तों में नहीं उतरते। मानसिक संघर्ष, वैयक्तिक विचित्रता-विलक्षणता मनोवैज्ञानिक उलझनों आदि का चित्रण विवेचन और निराकरण उनके नाटकों में कम है।" इसका मुख्य कारण निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की वे समस्याएँ हैं जो इक्कीसवीं सदी में भी ऊपरी लीपा-पोती के बाद भी ज्यों की त्यों हैं। अश्क के नाटकों में नारी विविध रूपों में चित्रित हुई है। अप्पी, माया, सुजला, प्रतिभा जैसे पात्रों के माध्यम से अश्क ने नारी जीवन की त्रासदी को भी प्रकट किया है और उसके प्रगतिशील विचारों का, संस्कार के दासत्व के प्रति विद्रोह का स्वागत भी किया है।

डॉ. रामचरण महेन्द्र ने अश्क के नाटकों की एक अन्य विशेषता की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "अश्क के लगभग प्रत्येक नाटक में एक और भी विशेषता है जिसका आधुनिक नाटक में प्रायः अभाव-सा है। वह है स्थापत्य संतुलन जिसे अंग्रेज़ी में Architectoric Effect कह सकते हैं—एक इमारत जिसके सभी अंग भली-भाँति सँवारकर एक शिल्पी ने बनाए हों, जिसको एक निगाह से देखने पर संपूर्णता का आभास हो। ऐसे नाटक का निर्माण साहित्यिक वास्तुकला का ही करतब कहा जा सकता है।" (*सप्तसिंधुः अश्क विशेषांक*, पृ. 139, 144)

इन नाटकों के संवाद कुछ इस स्वाभाविकता से रचे गए हैं कि दुष्यंत कुमार को लिखना पड़ा कि इतनी स्वाभाविकता के साथ संवाद लिखने वाला लेखक हिन्दी में दूसरा नहीं। इसका मुख्य कारण अश्क के शब्दों में "मैंने जब-जब नाटक लिखा है, अपने संवादों को बोलकर देखा है कि वे मंच पर कैसे बोले जाएँगे। अभिनेताओं को उन्हें बोलने में कष्ट तो नहीं होगा, भाषा मुहावरेदार तो रहेगी और भाव को पूरी तरह व्यक्त तो करेगी। ढेरों पयार्यवाची शब्दों में से सदा मैंने उन्हें चुना है जो भाषा को प्रवाहमान बनाएँ।" (*वड़े खिलाड़ी*, पृ. 28) इसीलिए वे कहते हैं, "मैंने अपने नाटकों की भाषा को

सदा सीधी-सादी, प्रवाहमान, बोधगम्य और विभिन्न भावों को अभिव्यक्ति देने में सक्षम बनाने का प्रयास किया है। मुझे कोई संवाद कितनी बार भी क्यों न लिखना पड़े मैं तब तक उसे नहीं छोड़ता, जब तक कि मेरा वांछित प्रभाव वह पैदा नहीं कर देता।" (वही, पृ. 28) अपने नाटकों के संवादों के बारे में ही नहीं रंगमंच के बारे में भी उनका कहना उल्लेखनीय है, "मैंने ऐसे नाटक लिखने का प्रयास किया जो सीधे सरल मंच पर भी आसानी से प्रस्तुत किए जा सकें। मैं नाटककार की सफलता इसमें मानता हूँ कि यदि उसका नाटक एक बड़े हाल में चंद पात्रों द्वारा भाव-भंगिमाओं के साथ ही पढ़ा जाए तो श्रोताओं और दर्शकों को प्रभावित कर सके। लेकिन यदि कोई कल्पनाशील निर्देशक चाहे और उसे आधुनिक साधन उपलब्ध हों तो वह नाटक के प्रभाव को बढ़ा सके।" (*बड़े खिलाड़ी*, पृ. 26)

अश्क की ये सब विशेषताएँ उनके एकांकियों में भी देखी जा सकती हैं। अभी तक अश्क के *देवताओं की छाया में* (1940), *चरवाहे* (1947), *पक्का गाना (तूफ़ान से पहले)* (1948) *पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ* (1951) *अंधी गली* (1956) *साहब को जुकाम है* (1959) *मुखड़ा बदल गया* (1980) एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

अश्क के इन संग्रहों में संकलित चालीस एकांकियों में मुख्य रूप से तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से उद्‌घाटित होती हैं—पहली प्रवृत्ति किसी-न-किसी सामाजिक विद्रूपता पर, जीर्ण-शीर्ण परंपरा पर, थोथी रूढ़ियों पर और स्वार्थवश उत्पन्न की गई कमज़ोरियों पर तीखा व्यंग्यात्मक प्रहार है। अश्क के व्यंग्य का पैनापन उनकी अपनी विशेषता है। अश्क साहित्य ही की यह मूल प्रवृत्ति है और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि जहाँ भी अवसर मिलता है अश्क व्यंग्य का प्रहार करने से नहीं चूकते। इस कला में वे सिद्धहस्त हैं। अपने समाज के गले-सड़े रीति-रिवाज़ों के प्रति उनके मन में जो आक्रोश और गुस्सा है, उसे वह व्यंग्य के माध्यम से प्रकट करते हैं। अश्क के एकांकियों की यह सर्वप्रमुख विशेषता है। 'देवताओं की छाया में' एकांकी में पूँजीवादियों के द्वारा किसानों के शोषण के यथार्थ चित्रण के साथ-साथ नारी जीवन की विवशता पर प्रकाश डाला गया है। 'जोंक' में आधुनिक अतिथियों पर व्यंग्य है तो 'लक्ष्मी का स्वागत' में पत्नी की मृत्यु के बाद चौथे पर ही विधुर हुए व्यक्ति के पुनः विवाह की बात की रस्म पर तीखा व्यंग्य किया गया है। 'अधिकार का रक्षक' में पूँजीवादी संस्कारों के साथ-साथ आज के अवसरवादी नेताओं पर तीखा व्यंग्य है। 'आपस का समझौता' में डॉक्टरों की चालबाज़ियों, धोखे, झूठ-कपट और रोगियों को ठगने की प्रवृत्ति का स्पष्ट व्यंग्यात्मक चित्रण है तो 'पापी' में स्त्रियों की दयनीय स्थिति, सास-बहू के झगड़े तथा पतनोन्मुख समाज का यथार्थ प्रकट हुआ है। 'विवाह के दिन' में पुरानी वैवाहिक पद्धति पर तथा 'पहेली' में आधुनिक युवकों की पलायनवृति पर व्यंग्य किया गया है। 'दो कैप्टन' में

अफ़सरों के बेईमानी और कपटपूर्ण व्यवहार पर तीखा प्रहार है तो 'साहब को जुकाम है' में समाज की दुश्चरित्रता पर। 'सेर आधा सेर चावल' में पड़ोसियों के कपटपूर्ण व्यवहार तथा 'मेहमान' में झूठे मित्रों की पोल खोली गई है। ये एकांकी केवल व्यंग्य भर करते हो ऐसी बात भी नहीं है। लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता इन एकांकियों में साफ़ झलकती है। व्यंग्य के पीछे छिपी करुणा और संवेदना इन एकांकियों को महज़ व्यंग्यात्मक एकांकी बनाने से बचाती है और उन्हें सामाजिक महत्ता प्रदान करती है। अश्क ने अपनी संवेदना और करुणा को व्यंग्य की काट से कमज़ोर या गौण होने से बचाया है। ये बात इन एकांकियों की सबसे बड़ी सफलता है। रंगमंच पर से एकांकी बार-बार खेले जाकर अपनी सफलता का परिचय कई बार दे चुके हैं।

अश्क के एकांकियों की दूसरी प्रवृत्ति इनकी सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता है जिसे मनोवैज्ञानिक धरातल पर अत्यंत सूक्ष्मता से व्यक्त किया गया है। रूप विधान और वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से ये एकांकी अश्क के अन्य एकांकियों से भिन्न जा पड़ते हैं। *चरवाहे* के सभी एकांकी इसी कोटि के हैं। इस संग्रह के पात्र ही प्रतीक रूप में प्रस्तुत हुए हैं। परिणामतः इन एकांकियों में गांभीर्यता का तत्त्व अपने आप प्रभावी हो गया है। 'चरवाहे', 'चिलमन', 'मैमूना', 'चुम्बक', 'चमत्कार', 'खिड़की', 'सूखी डाली', 'अंधी गली' आदि एकांकियों में प्रतीकों का प्रयोग भावात्मक ग्रंथियों के उद्‌घाटन के लिए किया गया है। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन एकांकियों में नारी की प्रधानता है। इन्हीं के इर्द-गिर्द विभिन्न मनोवृत्तियों से घूमते पुरुष हैं। यानी इनकी मूल समस्या सेक्स है। 'चरवाहे' एकांकी में रत्ना उद्दाम यौवन, कांत अनुभवी वृद्धत्व तथा गोविन्द वीरता, साहस और स्वच्छंदता का प्रतीक है। रत्ना गोविन्द के साथ भाग जाती है। इन प्रतीकों के माध्यम से रत्ना की जड़ बंधनों को तोड़ने और अपने यौवन की वासनात्मक पूर्ति की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति इस एकांकी में हुई है। 'किरण' भी 'सत' असत के पर्दे का प्रतीकं बनकर 'चिलमन' एकांकी में आई है। शशि जो कि रुग्ण किरण और उसके कवि पति हरि के मध्य खड़ी है—वासनात्मक आकर्षण के कारण उसकी आँखों के पर्दे में, किरण की मृत्यु के साथ ही हट जाती है। यह अत्यंत सूक्ष्मता से बुना गया प्रतीकात्मक एकांकी है।

'मैमूना' में आमना अपनी बेटी 'मैमूना' की भी उपेक्षा करती है और नए पुरुषों की ओर आकर्षित होती है केवल उद्दाम सेक्स की अतृप्त भावना के कारण। केवल इतनी-सी वात इस एकांकी में नहीं है। अन्य मनोवैज्ञानिक सत्य भी इस एकांकी में हैं। आमना अपने पति के गुण 'मैमूना' में देखकर उससे घृणा करती है। अंत में मैमूना अपने पिता के प्रति प्रेम प्रदर्शित करके इस एकांकी के अवसादपूर्ण प्रभाव को कुछ कम करती है।

'चुंबक' एकांकी में चुंबक का प्रतीक है गौतम जो एक कवि है मगर छिछला है। वह सरिता और गोपा को आकर्षित करता है। लौह चूर्ण का एक कण होते हुए भी

गोपा छिटक कर अपने अस्तित्व की रक्षा करती है। निस्संदेह ट्रेजिडी भी उसी के साथ होती है।

'खिड़की' एकांकी का यह प्रतीक व्यंजनात्मक है। पहले यह नयना की अपने प्रेमी 'बदनसिंह' की प्रतीक्षा का प्रतीक है, मगर इस प्रतीक्षा के पूर्ण होने पर यह कुंदन सिंह के ख़ाली हृदय का प्रतीक बन जाता है, जिसमें केवल अवसाद है। 'सूखी डाली' में बेला इसका प्रतीक है जो अपने विकृत अहं के कारण सहयोग, प्यार और अपनत्व के बीच भी सूखती है। इस एकांकी के बारे में कमलेश्वर का कहना है, "इस एकांकी में जिस सफलता से एक अहंवादी कुंठित और रूढ़िग्रस्त कॉम्पलेक्स का चित्र साकार किया गया है। वह अद्वितीय है।" (*नाटककार अश्क,* पृ. 308)

इन एकांकियों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि भले ही अश्क के व्यंग्य-प्रधान एकांकी अधिक चर्चित और मंचित हुए हैं, मगर अपनी सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता और मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों की सूक्ष्मता को स्पष्ट रूप से उद्‌घाटित करने में ये एकांकी अद्वितीय हैं। रंगमंच और कला कौशल की दृष्टि से ये सभी एकांकी सफल हैं। कमलेश्वर ने इन एकांकियों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "इन एकांकियों में सबसे बड़ी विशेषता है इनके अप्रस्तुत चरित्र! जो कभी मंच पर नहीं आते, परन्तु अपने संपूर्ण व्यक्तित्व की छाया का आभास देकर साकार हो उठते हैं। गोबिन्द, शशि, साज़िद, बदन सिंह आदि ऐसे कुछ मुख्य पात्र हैं जो अन्य पात्रों के कथोपकथनों द्वारा रूप पाए जाते हैं—केवल रूप ही नहीं पाते, वरन् मुख्य पात्रों की तरह घटनाओं का सृजन करते हैं स्वयं मुख्य स्वर बन जाते हैं। अप्रस्तुत पात्रों का यह विधान अश्क की कलात्मकता का बहुत ही उत्कृष्ट उदाहरण है।" (*नाटककार अश्क,* पृ. 309-10)

अश्क की यह कलात्मकता उनके सर्वाधिक चर्चित व मंचित प्रहसनों में देखी जा सकती है। हिन्दी में महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रहसन लिखने का श्रेय अश्क जी को ही जाता है। व्यंग्य का प्रयोग करने में अश्क सिद्धहस्त हैं हीं। उन्होंने अपने इस व्यंग्यकार का पूरी शक्ति और कलात्मकता से उपयोग किया है। 'जोंक', 'पहेली', 'आपस का समझौता', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'कइसा साहब कइसी आया', 'बतसिया', 'तौलिये', 'कस्बे के क्रिकेट क्लब का उद्‌घाटन', 'मस्केबाजों का स्वर्ग', 'पक्का गाना', 'सयाना मालिक', 'किसकी बात', 'साहब को जुकाम है'—जैसे प्रहसनों में हास्य तो है, मगर यह हास्य तक ही सीमित नहीं है। जगदीश चंद्र माथुर का इस संदर्भ में यह कहना बिलकुल ठीक है, "यथार्थ पर अश्क का इतना अनुपम अधिकार है कि उन्हें अतिरंजना शैली का सहारा लेने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। उनके पात्र कार्टून नहीं, उनके मज़ाक़ स्थूल नहीं, उनकी परिस्थितियाँ सरकस की कलाबाज़ियाँ नहीं। उनकी पैनी दृष्टि दैनिक जीवन में ही अट्टहास की सामग्री खोज निकालती है और उनकी लेखनी

उन झाँकियों को एक ऐसे पट पर हूबहू उतार देती हैं, जिस पर मुस्कान की महीन सिलवटें खेलती रहती हैं—मानो शरद पूनों का हँसता चाँद ललित और नन्हीं लहरियों के पर्दे पर प्रतिबिम्बित होता हो।" अश्क जी अपने इन प्रहसनों में अपने सामाजिक सरोकार को कहीं भी गौण नहीं होने देते। परिणामतः ये प्रहसन फूहड़ता और 'मात्र' हास्य के लिए हास्य के स्तर पर नहीं उतरते। रंगमंचीय कलात्मकता इन प्रहसनों का प्राण है, संभवतः इसलिए अश्क के इन प्रहसनों को सर्वाधिक सफलता मिली है।

एकांकियों के संदर्भ में अश्क के एक एकांकी संग्रह *अंधी गली* का अलग से ज़िक्र इसलिए ज़रूरी है कि इसे बड़ा नाटक भी माना गया है और एकांकी भी। इसमें एक गली के भिन्न-भिन्न घरों में जो कुछ हो रहा है, उसे भिन्न-भिन्न एकांकियों में चित्रित कर दिया गया है। अश्क ने बड़े ही कलात्मक ढंग से यह संकेत दिया है कि हमारा समाज एक *अंधी गली* है। टेकनीक की दृष्टि से इन्हें नया प्रयोग माना गया है। मैं अंधी गली को एकांकी-संग्रह ही स्वीकार करता हूँ। कुछ पात्रों के प्रत्येक एकांकी में चले आने से यह नाटक नहीं हो जाता। घूमने वाले रंगमंच पर अभिनीत होने पर भी ये सात एकांकी एक नाटक का प्रभाव नहीं डाल सकते क्योंकि प्रत्येक एकांकी का अपना एक चरमोत्कर्ष (Climax) है। सात बार यह संभव नहीं है। प्रयोग की दृष्टि से यह प्रयास ऐसा सफल नहीं कहा जा सकता। हाँ, एकांकी, कला के समस्त गुण इनमें मौजूद हैं।

संक्षेपतः जगदीश चंद्र माथुर के शब्दों का सहारा लेकर कहा जा सकता है कि प्रसाद के बाद हिन्दी नाटक का जो नई दिशा में उत्थान हुआ है, उपेन्द्रनाथ अश्क उसके प्रमुख प्रतीक एवं स्तंभ हैं। उनके नाटकों और एकांकियों में उनका युग और उनका जाना-पहचाना समाज बोलता है। इस संदर्भ में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का कथन उल्लेखनीय है, "नाटक का माध्यम हमेशा से जनाश्रित ही रहा, क्योंकि व्यापक जनता उसकी सामूहिक प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है—अश्क स्वयं भी नाटक के इस सामाजिक रूप को भली-भाँति समझते हैं। उनकी रंगमंच संबंधी मान्यता और आकांक्षा बहुत सही दिशा की ओर संकेत करती है....अश्क जी ने इस सामूहिक नाट्यांदोलन को चलाने में स्वयं महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। राष्ट्रीय स्तर पर सफल होने के लिए नाटक को पहले मुहल्ले के स्तर पर सफल होना है। अश्क जी की निगाह राष्ट्रीय स्तर की नाट्य-समस्याओं को लेकर है, पर अपने एकांकियों में उनकी चिन्ता मुहल्ले से बँधी है। यह बहुत शुभ है।"

संभवत यही वजह है कि अश्क जी के नाटक और एकांकी देशभर में, छोटे शहरों और क़स्बे तक के क्लबों के द्वारा सुविधा के साथ खेले गए। रंगमंच और सामाजिक सरोकार के बिना अश्क के नाट्य-साहित्य की बात नहीं हो सकती। नाटक को 'पाठ्य' से निकाल कर रंगमंच से जोड़ने का ऐतिहासिक कार्य अश्क जी ने किया है जो हिन्दी नाटक की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

कवि अश्क

जैसा कि अश्क जी के जीवन वृत्त से पता चलता है कि उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन पंजाबी बैत से शुरू किया था। वे चौथी-पाँचवी जमात में थे जब 'आर्य भजन पुष्पांजलि' नामक भजनों की पुस्तक की नक़ल में उन्होंने भजन बनाए। साल-दो-साल उन्हीं भजनों की तर्ज़ पर वे आर्य समाजी गीत बनाते रहे फिर पंजाबी बैतों की ओर मुड़ गए। आठवीं में उन्होंने वाक़ायदा उस्ताद रहमत को गुरु बनाया और पंजावी में कविताएँ कहने लगे। एक कवि सम्मेलन में तो एक कविता पढ़ने पर उन्हें रजत-पदक भी मिला। उस ज़माने की पंजाबी कविता का केवल एक बंद अश्क जी को याद रह गया है–

किते जा ते बैठ के विच सुंजें, असाँ अपना आप परचाईदा ऐ,
कोई सुने न अपनी गल्ल भावें, असाँ दिल नूँ दोस्त बनाईदा ऐ,
ओसे आख सुना ते सुन ओहदी, ओसे ताई ही असाँ रिझाईदा ऐ,
दुख ओसदे साऽमने फोल जिन्दे, समाँ कट लैणा इह तन्हाईदा ऐ।
होया की जे दोस्ताँ अक्ख फेरी, कहर टुट्टिया केहड़ी खुदाईदा ऐ,
साडा दिल ते अश्क ऐ नाल साडे, ओहदे नाल ही ग़म वटाईदा ऐ।

अश्क जी का पंजाबी बैतों का शौक़ अधिक समय तक नहीं रहा। एक-डेढ़ वर्ष में ही पंजाबी बैतों को कहना छोड़ कर वे उर्दू में ग़ज़ल कहने लगे। इसका कारण बताते हुए अश्क जी ने लिखा है, "जालंधर में पंजाबी कविता निचले तबक़े में लोकप्रिय थी। 'दोआबा पंजाबी कवि सभा' का प्रधान उस्ताद रहमत भैरों बाज़ार का मशहूर रंगरेज़ था; उस्ताद अब्र जौड़ा बाज़ार में हुक्कों के नेचे बाँधता था; उस्ताद 'बज़ीर' कोयला-फ़रोश था; उस्ताद 'शौकत' मोटर कंडक्टर था और उस्ताद श्याम गाकर क़िस्से बेचनेवाला। इन उस्तादों के चेले-चाँटे शहर के आवारा लौंडे थे। मैं जाति से ब्राह्मण, ऊपर से स्टेशन मास्टर का बेटा, मेरी निम्न-मध्यवर्गीय मनोवृत्ति को उन लोगों के साथ उठना-बैठना, घूमना-फिरना नहीं रुचा। शहर के पढ़े-लिखे संभ्रांत तबक़े की भाषा उर्दू थी। आठवीं

---

1. कहीं एकांत में जाकर हम अपने दुखी दिल को स्वयं सांत्वना देते हैं। कोई दूसरा चाहे हमारी बात न सुने, हम अपने दिल को दोस्त बनाते हैं। उससे अपनी कहकर और उसकी सुनकर हम उसे रिझाते हैं। उसी के सामने अपने दुःखों को खोलकर हम यह एकांत काटते हैं। क्या हुआ यदि मित्रों ने आँख फेर ली, कोई ख़ुदा का कहर नहीं टूटा (प्रलय नहीं आया) ऐ अश्क हमारा दिल तो हमारे साथ है। हम उसी से अपना ग़म बँटा लेते हैं।

कक्षा के दूसरे वर्ष (पहले वर्ष बीमारी के कारण मैं ड्राप कर गया था) मैंने दोआबा हाई स्कूल के ड्राइंग टीचर और जालंधर के प्रसिद्ध उर्दू शायर उस्ताद मुहम्मद अली 'आज़र' की शागिर्दी क़बूल कर ली।" (*आधुनिक कवि*, पृ. 9-10)। अश्क जी को वह पहली ग़ज़ल याद है और उसे तथा अन्य उस समय की ग़ज़लों को उन्होंने अपने काव्य-संग्रह *अदृश्य नदी* में संकलित भी किया है।

लेकिन उर्दू काव्य भी ज़्यादा दिन तक उन्हें बाँध नहीं सका। इसके कारण पर प्रकाश डालते हुए अश्क जी ने लिखा है, "उन दिनों मैं शारीरिक रूप से बहुत कमज़ोर था। मेरे चेहरे पर कुछ अजीब-सी यतीमी बरसती थी। मेरा एक उस्ताद-भाई था 'अख़्तर'। वह सुंदर था, पढ़ता और भी ख़ूब था, अच्छा लिखना उसके वश का नहीं था। प्रायः मैं ही उसे लिखकर देता था। उस्ताद उसकी ग़ज़लें तो तत्काल देख देते, मेरी हफ़्ता-हफ़्ता भर न देखते। उन दिनों कुछ ऐसा आवेग दिमाग़ पर छाया रहता था, कि दिन में दो-दो ग़ज़लें हो जातीं। उस्ताद की बेरुख़ी से मुझे बड़ी तकलीफ़ होती। सितम यह कि 'अख़्तर' मुझसे ग़ज़लें लिखवा कर उस्ताद से तत्काल ठीक कराके पढ़ आता और मैं मुँह देखता रह जाता। चूँकि ग़ज़लें मुशाअरों में पढ़ी जाती थीं और जब तक उस्ताद ग़ज़ल ठीक न कर दे, और उसकी मदद से शब्दों का उच्चारण ठीक न कर लिया जाए, तब तक उन्हें मंच पर पढ़ना ख़तरे से ख़ाली न था। (एक बार 'सितम' को 'सित्म' पढ़ देने पर मेरा ख़ासा मज़ाक़ उड़ चुका था) इसलिए उस्ताद से इस्लाह की ज़रूरत थी। उस्ताद 'आज़र' ड्राइंग टीचर थे और बस्ती गज़ाँ में रहते थे। छुट्टी के बाद वे स्कूल से पैदल लगभग तीन-चार मील चल कर बस्ती के अड्डे पहुँचते और वहाँ से एक आना देकर ताँगे में बस्ती ग़ज़ाँ जाते। मैं छुट्टी के बाद घर में बस्ता पटक, उनके रास्ते में दरवाज़ा ख़ाकरूबाँ अथवा माई हीराँ में जा खड़ा होता और उनके साथ बस्ती के अड्डे तक जाता। स्कूल हमारा घर से काफ़ी दूर था। स्कूल से घर आना, फिर माई हीराँ गेट जाना, वहाँ से बस्ती के अड्डे और वहाँ से वापिस घर-पाँच छः मील की मंज़िल पड़ जाती। इतने पर जब मालूम होता कि उस्ताद ने ग़ज़ल नहीं देखी तो मन बेहद हतोत्साहित होता। एक बार जब मैं कई दिन तक माई हीराँ गेट से बस्ती ग़ज़ाँ तक आता-जाता रहा और पाँचवें-छठे दिन मुझे पता चला कि मेरी ग़ज़ल उनसे कहीं गुम हो गई है तो मुझे बहुत गुस्सा आया। मन-ही-मन मैंने तय किया कि मैं कहानी लिखूँगा, जिसे किसी को न दिखाने की ज़रूरत हो न सुनाने की।" (*आधुनिक कवि*–18, पृ. 11-12) इस प्रकार शायरी से भी अपना दामन छुड़ा कर अश्क जी धड़ल्ले से कहानियाँ लिखने लगे और उनका काव्य-वेग पृष्ठभूमि में चला गया।

कुछ वर्ष बाद लाहौर आने पर अश्क जी का परिचय हरिकृष्ण प्रेमी से हुआ जिनके संपर्क से उन्होंने हिन्दी कविता का परिचय पाया। अश्क जी के कथननुसार, "उनसे (प्रेमी जी

से) परिचय के एक वर्ष बाद ही 1935 में (जब मैं लॉ कॉलेज में पढ़ता था) मेरी पत्नी बीमार हो गई। अगले ही वर्ष उसका देहावसान हो गया। उसकी बीमारी के अंतिम दिनों में मन की कुछ ऐसी दशा हो गई कि कहानी-वहानी लिखना मेरे लिए असंभव हो गया। भावनाओं का ऐसा आवेग था, जिसे गद्य वहन न कर सकता था। मैंने पहले एक ग़ज़ल लिखी। लेकिन ग़ज़ल की विधा भी उस आवेग के लिए नितांत अपर्याप्त थी। तब, प्रेमी जी से एक छंद सीख कर मैं लगातार उसी छंद में कविताएँ लिखता चला गया"। (वही, पृ. 15)। *प्रात-प्रदीप* (1938) में यही कविताएँ संकलित हैं और यह उनका पहला काव्य-संग्रह था। दूसरे संग्रह *ऊर्म्मियाँ* (1941) की अधिकांश कविताएँ भी ऐसी ही मनःस्थिति में लिखी गईं। दूसरे शब्दों में इनमें भी एक ही मूड की कविताएँ थीं। अश्क जी की यह प्रवृत्ति अंतिम संग्रह *एक दिन आकाश ने कहा* तक में देखी जा सकती हैं। संभवतः इसलिए अश्क जी मानते हैं, "मैं कविता को घनीभूत संवेदना (ïमपहीजमदमक ेमदेपइपसपजल) की उपज मानता हूँ। संवेदना जब इतनी बढ़ जाती है कि मन में समा नहीं पाती तो काव्य में निःसृत हो जाती है।" (*आधुनिक कवि*–18, पृ. 36) अश्क जी की कविताओं में यह घनीभूत संवेदना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

1946 में जब अश्क जी को यक्ष्मा की सूचना मिली तब यही घनीभूत संवेदना 'दीप जलेगा' नामक कविता के रूप में प्रस्फुटित हुई। "बाईस दिनों में वह कविता काग़ज़ पर उतर आई।" इस लंबी कविता के बारे में कौशल्या जी का कहना है, "इसमें कोई संदेह नहीं कि अश्क जी को कविता की प्रेरणा अपनी व्यक्तिगत स्थिति के कारण मिली, पर अपने प्रभाव में कविता व्यक्तिगत नहीं रही बल्कि सार्वजनिक हो गई है।" 'दीप जलेगा' वास्तव में जिजीविषा, इच्छा शक्ति और आदर्श को आधार बनाकर रची गई कविता है जो किसी में भी अदम्य उत्साह और साहस भर सकती है।

तिल तिल मिटता हूँ मैं लेकिन
नहीं छोड़ता-
कर्मक्षेत्र के अपने स्थल को
नहीं छोड़ता-
पाँव जमाया है मैंने जो
उसको अचल स्तंभ बनाना
दिया जलाया है मैंने जो
उसको अपने उर के स्वर का
स्नेह पिलाना
पहुँचाना अपने इस स्वर को
समरांगम के कोटि-कोटि उन योद्धाओं तक
मेरी भाँति जो जगती के कोने कोने में
जूझ रहे हैं अंधकार से।

दीप जलेगा के बाद *बरगद की बेटी* (1949) प्रकाशित हुई। यह अश्क का पहला खंड-काव्य है। इसे लिखने की प्रेरणा उन्हें प्रयाग नारायण त्रिपाठी के एक पत्र से मिली जिसमें 'नीम से' की प्रशंसा की गई थी। "त्रिपाठी जी के पत्र को पढ़कर मुझे कुछ ऐसा प्रोत्साहन मिला कि मैंने तत्काल एक दूसरी लंबी कविता 'नजमा' के शीर्षक से लिखनी शुरू कर दी। वहीं *नजमा लेहराँ* और फिर *बरगद की बेटी* बनी।" (*बरगद की बेटी*, पृ. 8)

यह एक प्रगतिवादी खंड-काव्य है। स्वयं अश्क का कहना है, "1935-36 में लाहौर में प्रगतिशील आंदोलन की जो लहर आई, प्रेमचंद और उसके समकालीनों की नितांत आदर्शवादी दृष्टि में यथार्थ का जो पुट मिला, तमाम रूमानियत के बावजूद *नीम से* और *बरगद की बेटी* में अपने आप उसका समावेश हो गया।" (*आधुनिक कवि*—18, पृ. 23) इसमें सामंतवादी शोषण का यथार्थ चित्रण है। शिवदानसिंह चौहान का कथन है, "यद्यपि यह एक प्रेम-कथा है, पर इसके ताने-बाने में ग्राम-जीवन का यथार्थ इतनी सूक्ष्म संवेदनशील कलात्मकता से गुँथा हुआ है कि सामंतशाही उत्पीड़न और अनाचार का सजीव ख़ाका आँखों के आगे खिंच जाता है।" (*चाँदनी रात और अजगर*, पृ. 17)

इस खंड-काव्य में अश्क जी का कथाकार और कवि एकाकार हो गए हैं। अश्क की अनुभूति, उनका प्रगतिवादी दृष्टिकोण और कवि इस काव्य में घुल-मिल से गए हैं। संभवतः इसलिए यशपाल से कहा, "अश्क ने अपने शब्द-चित्रों और भावाभिव्यक्ति में गहराई और व्यापकता दोनों का ही बहुत अच्छा परिचय दिया है। लेखक की सफलता यह है कि वह पद रचना और कथा दोनों ही दृष्टियों से गढ़ी हुई नहीं, स्वाभाविक जान पड़ती है।" यशपाल ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "अश्क की कहानी की अपेक्षा उसकी कविता अधिक सफल है।" (*बरगद की बेटी*, पृ. 11, 19)

शिल्प की दृष्टि से अश्क इसे *दीप जलेगा* से पहले की रचना मानते हैं। कारण यह कि *नीम से* में सोलह-सोलह मात्राओं का छंद है और *बरगद की बेटी* में सोलह-चौदह का। दूसरे इसमें 'दीप जलेगा' की भाँति बँधे और मुक्त छंदों का प्रयोग नहीं है। इसलिए शिल्प और संवेदना की दृष्टि से कवि इसे *दीप जलेगा* से पहले की रचना मानता है। भले ही यह उसके बाद लिखी गई।

लेकिन *चाँदनी रात और अजगर* खंड-काव्य का शिल्प दोनों से भिन्न है। अश्क का यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण खंड काव्य है। *बरगद की बेटी* की सी रूमानियत यहाँ पूर्णतया ग़ायब है। अश्क जी ने इसकी प्रेरणा की चर्चा विस्तार से इसकी भूमिका में की है। संक्षेपतः यह कि इस रचना के लेखन के पीछे यशपाल एवं उनकी पत्नी के प्रबल संघर्ष के साथ-साथ अश्क जी तथा उनकी पत्नी का अपना संघर्ष, आस-पास मज़दूरों, प्रेस-कर्मचारियों तथा श्रमिकों का घोर संघर्ष है, जिसे अश्क जी ने बहुत निकट से देखा और फिर एक चाँदनी रात को जो पुंजीभूत होकर कविता में प्रस्फुटित हो उठा।

अश्क जी के शब्दों में इस खंड-काव्य की कहानी, "निम्न-मध्यवर्गीय श्रमिक के गत जीवन के संस्मरणों, भूत और वर्तमान के अभावों और अपने तथा अपने जैसे लक्खोखा लोगों के स्वप्नों द्वारा गूँथी गई है। इसी कारण इस खंड-काव्य का रूप विन्यास और छंद प्रयोग अपेक्षतया अधिक संश्लिष्ट और जटिल है। इस काव्य का आंतरिक तारतम्य घटनाओं के वर्णन के द्वारा नहीं, बल्कि भावनाओं के सहज संबंधों के द्वारा बना है। इसका बँधा अथवा मुक्त-छंद उन भावनाओं के उतार-चढ़ाव द्वारा निर्मित होता है।" (*आधुनिक कवि*—18, पृ. 26)

अश्क के प्रगतिवादी दृष्टिकोण की स्पष्ट बानगी प्रस्तुत करता यह खंड-काव्य हिन्दी के महत्त्वपूर्ण खंड-काव्यों में अपना स्थान रखता है। इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बँधे अथवा मुक्त छंदों के द्वारा भावनाओं के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ कथा आगे बढ़ती है। अतः इसमें जो प्रवाह और ओज है, वह इसे निरंतर प्रवाहमान झरने के समान कर देता है जो कभी समाप्त नहीं होता। श्रमिकों का दुःख दैन्य और भविष्य की आशा—कि इसके बिना जीवन जीया ही नहीं जा सकता—इस काव्य को कोरी वायवीयता से बचाता है। कवि पर प्रगतिवादी विचारधारा की स्पष्ट छाप यहाँ देखी जा सकती है। शिवदान सिंह चौहान का मानना है, *चाँदनी रात और अजगर* न तो कोरी राजनीतिक नारेबाज़ी है (यद्यपि पूँजीवादी समाज के वैषम्य और अंतर्विरोधों का मूर्त चित्रण इसमें है) और न यह केवल कविता में रूपगत प्रयोग है (यद्यपि कवि ने विषय वस्तु की अभिव्यक्ति को मार्मिक और सुंदर बनाने के लिए राशिद, फ़ैज़, पंत, महादेवी वर्मा की शैलियों से प्रभाव ग्रहण करते हुए अपनी छंद योजना और शब्द विन्यास में कतिपय नए प्रयोग भी किए) कुल मिलाकर यह कविता वास्तव में कविता है, जिसकी विषय वस्तु इतनी यथार्थ और सामयिक है, नैतिक दृष्टिकोण इतना स्पष्ट और जनवादी है और अभिव्यक्ति इतनी चुस्त और मार्मिक है कि सहज ही पाठक के हृदय को झकझोर देती है।" (*चाँदनी रात और अजगर*, पृ. 21-22)। इस काव्य की यह भी एक शिल्पगत विशेषता है कि इसमें से कई ऐसे स्वतंत्र गीत निकाले जा सकते हैं जिनका अलग से आनंद लिया जा सकता है।

•

दीप जलेगा के बाद भले ही *बरगद की बेटी, चाँदनी रात और अजगर* जैसे खंड-काव्य अश्क जी ने रचे हों, कविता अश्क जी ने नहीं की। कारण, "शायद यह था कि पुरानी कविता मुझे संतोष नहीं देती थी। मैं नई कविता लिखने लगा था। 'तसल्ली' और 'अप्रैल की चाँदनी' लिख चुका था। लेकिन नई कविता पर मैं अपनी पकड़ को मज़बूत न कर पाया था।" (*आधुनिक कवि*—18, पृ. 28)। परिणामतः एक लंबे अंतराल के बाद 1960 में उनका काव्य-संग्रह *सड़कों पे ढले साये* नाम से प्रकाशित हुआ।

इस संग्रह की मूल प्रेरणा के बारे में अश्क जी का कहना है, "*सड़कों पे ढले साये* की अधिकांश कविताओं की प्रेरणा प्रकृति का सौन्दर्य है। मेरे कवि ने उस सौन्दर्य में

आदमी की स्थिति और नियति को परखा...।" (*आधुनिक कवि*–18, पृ. 32)। संभवतः इसलिए धनंजय वर्मा ने इस संग्रह की कविताओं को यथार्थजीवी लोक-परक और कोरमकोर अनुभूत्य मानते हुए कहा, "इसमें कुंठाओं को ओढ़ा नहीं गया है, समस्याओं का आरोपण नहीं है, नवीनता के फ़ैशन से अपनी ईमानदारी और अनुभूति के प्रति शुतुरमुर्गीय नीति नहीं है।" भारतभूषण अग्रवाल ने इन कविताओं की आत्मा तक को आधुनिक मानते हुए कहा, "इसमें आज की विषमताओं और जटिलताओं ने साँसें लेते प्रबुद्ध भावुक की अनुभूतियाँ हैं, जिनमें विस्मय भरी ताज़गी और सहजता है।" सुरेन्द्रपाल ने इन्हीं सब बातों को सामने रखकर ही इस संग्रह की व्यक्तिमूलक अभिव्यक्ति के भीतर भी सामाजिक सार्वजनीनता सर्वत्र देखी। प्रमाणस्वरूप 'जिन्दगी के जंगल में' 'मिडियाकर्से का गीत' 'कवि' कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है। इस संग्रह में अश्क जी का आत्मालोचन भी कई कविताओं में दिखाई पड़ता है–'तसल्ली', 'छिपकली सी मुहब्बत', 'नर्सिसस का उपदेश अपने बेटे को' जैसी कविताएँ इस संदर्भ में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

इस संग्रह की भूमिका में अश्क जी ने 'नई' और 'पुरानी' कविता के विभाजन के पचड़े में न पड़ते हुए अच्छी कविता को महत्त्व दिया है। उनकी दृष्टि में, "प्रश्न न रूपाकार का है, न 'यह' अथवा 'वह' लिखने का, प्रश्न कवि की अपनी दयानतदारी का है। यदि उसने दयानतदारी से अपनी भावनाओं अथवा विचारों को व्यक्त किया है तो उसका कृतित्व सफल है। यदि उसने केवल फ़ैशन के लिए अपनी सहजधारा को रोककर दूसरी ओर लगाने का प्रयास किया है तो कुछ समय के लिए चाहे उसे संतोष हो जाए, उसकी कविता चिरजीवी नहीं होगी।" दूसरे शब्दों में कवि जो शिद्दत से महसूस करता है यदि उसको कविता में चित्रित करे तो वह प्राणवान होगी और उसके जैसे सोचने और महसूस करने वालों को रुचेगी। अश्क जी की कविताओं में यह गुण तो है ही क्योंकि उन्हीं के शब्दों में "मुझे जो कहना होता है, उसे पूरी शिद्दत से कह देता हूँ।" (*सड़कों पे ढले साये*, पृ. 15)

खोया हुआ प्रभामंडल 1965 में प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह की प्रेरणा, "स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का सामाजिक विघटन और मूल्यहीनता थी और उसमें आम आदमी की स्थिति और नियति को परखना।" (*आधुनिक कवि*–18, पृ. 32) इस काव्य संग्रह में कुछ नए परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। एक तरफ़ इसमें व्यक्तिमूलक एकांतवादी स्वर है। आरोपित प्रजातंत्र और छद्मवेशी स्वतंत्रता ने बुद्धिजीवियों को सहज एकाकी नैराश्य की तरफ़ झुकने को बाध्य किया है। 'बिके हुए', 'परीक्षित पुत्रों के प्रति', 'कोई खिड़की नहीं', 'ओ प्रमथ्यु के वंशजो', 'एक रेगिस्तान' जैसी कविताओं में इसी स्वर की अभिव्यक्ति हुई है। दूसरी तरफ़ 'लोहे का गोला', 'खोया हुआ प्रभामंडल', 'साथ ही लेकर इन्हें', 'एक चेतावनी', 'मैं लौट आऊँगा' जैसी कविताएँ भी हैं जो विकल्पहीन

पाज़िटिव स्वर को अभिव्यक्त करती हैं। 'स्वर का आईना' तथा 'ये कैसा प्रदेश' सामाजिक सार्वजनीनता को अभिव्यक्त करती हैं तो 'यह आक्रोश:', 'यह अहं', 'यह मिट्टी यह रेत' पुनः आत्मालोचन की प्रकृति को प्रकट करती है। *धर्मयुग* में इस संग्रह की समीक्षा करते हुए समीक्षाकार ने लिखा, "*खोया हुआ प्रभामंडल* में व्यक्तिमूलक भावनाएँ आक्रोश में चीखती हैं और व्यंग्य की चिकोटियाँ काट कर ध्यान आकर्षित कर लेती है। एक दुर्दमनीय आक्रोश के साथ-साथ खोया हुआ प्रभामंडल की रचनाओं में संघर्षरत रहने का दृढ़ संकल्प भी है।" रमेशचन्द्र शाह ने भी इन कविताओं की रागाविष्ट तीव्रता के प्रभाव की बातें कही।

इस संग्रह के 12 वर्ष बाद अश्क जी का नया काव्य-संग्रह *अदृश्य नदी* (1977) प्रकाशित हुआ। इस संग्रह तक आते-आते अश्क का काव्य फलक न केवल विस्तृत होता है बल्कि अपने समकालीन कवियों के साथ कंधा मिलाकर चलते हुए, अपनी टेक पर दृढ़ रहते हुए, अपने आप से और समाज से आँख मिलाते दिखाई पड़ते हैं। इस संग्रह के तीन खंड हैं—पहले में राजनीति की पृष्ठभूमि में लिखी कविताएँ हैं, दूसरे में वैयक्तिक तथा तीसरे में ग़ज़लें। डॉ. देवेश ठाकुर और रणजीत को पहले खंड की कविताएँ पसंद आईं तो नए कवि अरुणेश नीरन को दूसरे खंड की। रवीन्द्रनाथ त्यागी को तीसरे खंड की ग़ज़लें विशेष प्रशंसनीय लगीं।

इस संग्रह की पहली तीन कविताएँ भारत पाक युद्ध (1965) के संदर्भ में रची गईं और 'दोनों दरवाजों के बीच' जैसी सशक्त कविता इलाहाबाद में हुए सांप्रदायिक दंगे पर है। दूसरे खंड में 'अदृश्य नदी', 'फांस', 'अपनी रोशनी' जैसी कविताएँ हैं जो वैयक्तिक होते हुए भी एक सामाजिक परिप्रेक्ष्य रखती हैं। ग़ज़लें इस काव्य संग्रह में पहली बार प्रकाशित हुईं और इसमें 1926, 28, 31, 76 तक की ग़ज़लें और शेर संकलित हैं। अश्क जी के प्रारंभिक दौर का पता देती ये ग़ज़लें आगामी संग्रहों में संकलित ग़ज़लों की रचना का प्रेरणास्रोत रही हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पीली चोंच वाली चिड़िया के नाम (1990) में प्रकाशित कविताओं का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि जैसे किसी पंछी ने *प्रात-प्रदीप* में अपने जो पंख खोले थे, वह इस संग्रह तक आते-आते पूरी तरह खुल गए हैं। इस संग्रह में *अदृश्य नदी* की भाँति राजनीतिक पृष्ठभूमि और वैयक्तिक धरातल पर रची कविताएँ और ग़ज़लें तो हैं हीं, कुछ नए आयाम भी हैं। सात खंडों में विभाजित यह खंड अपनी वैविध्यता में अद्वितीय है। 'मौत' पर लिखी कविताएँ जहाँ एक मूड का पता देती हैं, वहीं इसके परिप्रेक्ष्य में जीवन के अर्थ को रेखांकित करती हैं। 'अरे अश्क वह एक फ़तूरी' खंड की कविताओं में कवि की आत्मालोचना के साथ-साथ व्यंग्य की प्रखरता देखी जा सकती है। स्वयं को व्यंग्य

का निशाना बनाकर शायद ही किसी हिन्दी कवि ने ऐसी कविताएँ लिखने का साहस किया हो। 'यह शहर बहुत उदास' में इलाहाबाद के माध्यम से शहरों के अपराधीकरण का यथार्थ और तीखा अंकन है तो 'मैं तुम्हें आवाज देता हूँ' में अश्क की गहरी सामाजिक संपृक्ति का पता चलता है। इस संग्रह तक आते-आते अश्क जी ने पुनः ग़ज़लें लिखनी प्रारंभ कर दी थीं जिनकी बानगी इस संग्रह में देखी जा सकती है। इस संग्रह की समीक्षा करते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने अन्यत्र लिखा था, "विषयगत एवं रूपगत वैविध्यता होते हुए भी इस संग्रह की कविताएँ आश्चर्यजनक रूप से सरल हैं। रूपकों और प्रतीकों की वैसी भीड़ भी यहाँ पर नहीं है जो अन्य कवियों के यहाँ देखने को मिलती है। इन कविताओं की विशेषता इनकी स्पष्टता है।" वर्तमान साहित्य

1991 में अश्क जी का तीसरा और अंतिम खंड-काव्य प्रकाशित हुआ है—*स्वर्ग एक तलघर है।* इस काव्य की कथावस्तु और रूप विधान पहले दोनों खंड काव्यों (प्रायः इसे पद्य काव्य, कथा-काव्य कह कर पुकारा जाता है) से एकदम अलग है। इस खंड-काव्य के बारे में अश्क जी ने लिखा है, *"स्वर्ग एक तलघर है* के दो छोर हैं। एक छोर पर आज के उत्तरोत्तर मूल्यहीन होते चले जाने वाले हमारे समाज के विघटित मूल्यों और बुनियादी नैतिक मूल्यों में द्वंद्व है और दूसरे छोर पर धर्म के ऊपरी रूप यानी कर्मकांड और सच्चे धर्म में अंतर की ओर संकेत किया है। थीम के ये दोनों तार शुरू से लेकर अंत तक एक-दूसरे में गुँथे हुए साथ-साथ चलते हैं।" (*स्वर्ग एक तलघर* है, पृ. 12-13)

जिस प्रकार अश्क जी के पहले दोनों खंड काव्यों की वस्तु का आधार समाज है, और वहीं से पात्र लेकर रचना का सृजन हुआ है, ठीक वैसे ही इसमें भी वस्तु-तत्व सामाजिक है। *जय-पराजय* नाटक की रचना के बाद अश्क जी ने इतिहास, पुराण पर आधारित कुछ न लिखने का जो फ़ैसला किया उसे खंड काव्यों तक में निभाने का काम अश्क जी ने किया है। हिन्दी के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण खंड-काव्य ऐतिहासिक या पौराणिक वस्तु पर आधारित हैं और धर्म पर टिप्पणी करना वहाँ सुगम भी रहा है। लेकिन अश्क जी ने यह सुविधा नहीं चुनी और एक ऐसे पात्र के माध्यम से भ्रष्टाचार और धर्म की बात कही है जो हमारे समाज का एक हिस्सा है और जिसमें हम चाहें तो अपने आपको देख सकते हैं।

इस खंड-काव्य में अश्क जी ने जो बातें कहनी चाही हैं, उसका सविस्तार वर्णन उन्होंने अपने इस काव्य की भूमिका में किया है। *स्वर्ग एक तलघर* है की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है, "रहा स्वर्ग, तो उसकी ख़ातिर जितने गुनाह होते हैं, उन्हें देखते हुए वह स्वर्ग एक अंडरवर्ल्ड जैसा दिखाई देता है।" इस खंड-काव्य के बारे में जो बात सबसे महत्त्वपूर्ण है वह यह कि धर्म की व्याख्या करते हुए, अपने दृष्टिकोण का स्पष्ट पता देते हुए अश्क जी कहीं भी यथार्थ का पलड़ा नहीं छोड़ते। वे धर्म की अँधेरी कंदराओं में

कहीं गुम नहीं होते। उनका सामाजिक सरोकार ज्यों का त्यों बरक़रार है। अपने इर्द-गिर्द के भ्रष्ट समाज को वाणी देने के लिए उन्होंने इस खंड-काव्य का सृजन किया है। उनके शब्दों में, "हमारे भ्रष्ट समाज में स्वार्थपरता, समय-साधकता, स्वजन पालन, लोभ, लालच, घूसखोरी आदि के जो मानव-सुलभ दुर्गुण दबे पड़े थे, वे ही आदर्शवादी और सिद्धांतप्रिय नेताओं की अनुपस्थिति में खुद खेले हैं और हमारा समाज, जैसे भी हो सके, धन और सुविधाएँ जुटाने की पागल दौड़ में सरगर्दान है।" (*स्वर्ग एक तलघर है*, पृ. 18) सो इस खंड-काव्य में उनका नैतिक मूल्यों और सच्चे धर्म की ओर झुकाव है, मगर उपदेश नहीं है। अश्क के अंतिम काव्य-संग्रह की भाँति उनका यह खंड-काव्य भी नई दिशाओं की खोज का पता देता है।

इसके चार वर्ष बाद ही *एक दिन आकाश ने कहा* काव्य-संग्रह (1995) प्रकाशित हुआ। अपने पूर्ववर्ती संग्रहों की विशेषताओं को समेटने के साथ-साथ इस संग्रह में कुछ नई दिशाओं को खोलती कविताओं का स्वर भी देखने को मिलता है। इस संग्रह में राजनैतिक पृष्ठभूमि पर रचित कविताओं का अभाव है मगर रागाविष्ट वैयक्तिकता की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति इसकी प्रमुख विशेषता है। इस संग्रह में अमूर्तन की सीमाओं को छूती हुई ऐन्द्रिकता और फैन्टेसी में रचित कविताएँ अश्क के विस्तृत काव्य-फलक को और विस्तार देती हुई नए क्षितिजों की खोज का पता देती है। 'और मेज़ चुप हो गई' खंड में संकलित कविताएँ अश्क के काव्य-संसार को एक नया आयाम प्रदान करती हैं। यहाँ अपनी बात कवि फंतासी के माध्यम से कहता है। एक परंपरागत शिल्प तोड़ने का प्रयत्न है इन कविताओं में, 'अवलंब' में अश्क का कथाकार सक्रिय है तो 'कगार टूटेगा ही' तथा 'व्यथा' में नाटकीयता का तत्त्व इन्हें और अधिक संप्रेषणीय और महत्त्वपूर्ण कर देता है। अंतिम भाग में पुनः अश्क की ग़ज़लें हैं जिनमें भी एक अजीब सी फक्कड़ता बार-बार झलक मारती दिखाईपड़ती है।

अश्क जी का अभी एक काव्य-संग्रह *ओ पार्वती* अप्रकाशित है। इसका विज्ञापन *एक दिन आकाश ने कहा के* फ्लैप कवर पर है। इस संग्रह की बेहद लंबी कविता *ओ पार्वती* निस्संदेह पुनः अश्क के काव्य संसार में एक नया आयाम जोड़ती है। इस कविता की ऐन्द्रिकता, प्रतीकात्मकता और नाटकीयता एक ऐसे वातावरण का सृजन करती है कि पाठक उसमें डूबे बिना नहीं रहता।

अश्क के सभी काव्य-संग्रहों में संकलित कविताओं का एक साथ अध्ययन करने पर उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ व्यापकता और सूक्ष्मता का स्पष्ट पता चलता है। *एक*

दिन आकाश ने कहा तक आते-आते जो व्यापकता और नवीनता वे प्राप्त करते हैं, बहुत कम कवियों को यह गुण नसीब होता है। अश्क जी की प्रत्येक कविता उनके अनुभव का हिस्सा बने बिना काग़ज़ पर नहीं उतरी। कोरा विलास उनका उद्देश्य कभी नहीं रहा। यही कारण है कि उनके यहाँ एक ही मूड की कविताएँ देखने को मिलती हैं। उनकी कविताओं की इसी विशेषता के कारण वे अपने अंदर झाँक कर अपना जायज़ा लेने का प्रयत्न भी करते हैं और ऐसी कविताओं का सृजन करते हैं जिनका संबंध उनकी निजी ज़िन्दगी से है। उनकी जटिल मानसिकता का परिचय देती ये कविताएँ कहीं वस्तुपरक ढंग से कवि के मानवीय रूप का पता भी देती हैं।

अश्क की कविता में सदियों के मानवानुभव को भी रेखांकित करने की क्षमता है। वस्तुतः ऐसी कविताएँ ही अपने निजी संदर्भों को छोड़कर सार्वजनीनता का अर्थ ग्रहण करती हैं और किसी भी कवि की महती उपलब्धि कहला सकती हैं। इस संदर्भ में एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

नहीं आज ही केवल हमने दीपक बाले
नहीं आज ही केवल हम इस अंधकार से लड़ने वाले
हमसे पहले पूर्वजों ने-
जब जब अंधकार ने लेकर
अपना दल-बल
घेरे डाले-
दीपक बाले

—दीप जलेगा

*

अपना नन्हा चिराग़ जलाए बिना कोई चारा नहीं।
कोई चारा नहीं-
कि क्षण भर में लाखों ख़र्च करने वाला सत्ताधारी
उसी सूरज के गुण गाता है,
और एक जून पेट भर न पाने को मजबूर, मज़दूर
उसी को बार बार बुलाता है,
और लाखों निरीह लोगों को मौत के घाट उतारनेवाला
उसी की दुहाई देता है,
और करोड़ों से जीने का हक़ छीननेवाला
उसी का नाम लेता है।

—अदृश्य नदी

अश्क जी के काव्य की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता उनकी सहजता है। इस संदर्भ में उनका अपना कहना है, "मैं कविता में सहजता का कायल हूँ। दुरूहता और अस्पष्टता दूसरों में भले ही मुझे रुचिकर लगे, अपने यहाँ मैं उसे पसंद नहीं करता। काव्य पर ही नहीं, यह बात मेरे सारे साहित्य पर लागू होती है। जटिल से जटिल अनुभूति को मैं सरल और सहज ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश करता हूँ। अपने उन समकालीनों के मुक़ाबले में जो सीधी-सरल बात को भी कठिन और दुरूह बना कर पेश करते हैं, मैंने बड़ी-से-बड़ी बात को अत्यंत सरल ढंग से रखने की कोशिश की है।" (*आधुनिक कवि*—18, पृ. 37) अश्क जी की यह सहजता *प्रात-प्रदीप* से *ओ पार्वती* तक उनके संपूर्ण काव्य-संसार में व्याप्त है। उनकी सहजता को 'सतही' समझने की भूल का ही परिणाम है कि आलोचकों ने उनके काव्य की उपेक्षा की है। उपर्युक्त उद्धृत काव्य पंक्तियाँ उनकी सहजता को भी दर्शाती हैं।

अपने समाज से नज़र चुराकर कुछ भी लिखना अश्क जी के लिए कभी संभव नहीं रहा। परिणामतः उनकी कविताओं में उनका समाज बोलता दिखाई पड़ता है। भ्रष्ट लोकतंत्र का यथार्थ उनकी कविताओं में देखा जा सकता है।

सामाजिक सरोकार के संदर्भ में केवल दो कविताओं का उल्लेख भर पर्याप्त होगा। *पीली चोंच वाली चिड़िया के नाम* काव्य-संग्रह में संकलित 'मैं तुम्हें आवाज़ देता हूँ', और *यह शहर बहुत उदास है* अश्क जी के आक्रोश को प्रकट करती हैं। रूप कुँवर के सती होने और दिल्ली के किसी संपादक के इसका समर्थन करने के विरोध और आक्रोश स्वरूप लिखी गई यह कविता अश्क जी की सामाजिक सलंग्नता और मानवीयता का स्पष्ट और सटीक उदाहरण है। *यह शहर बहुत उदास है* में उनका सामाजिक सरोकार केवल इलाहाबाद शहर भर से नहीं है—सभी शहरों में हो रहे अपराधीकरण से है जो राजनीति के रास्ते से अपना प्रभुत्व बनाता चला जा रहा है।

अंतिम प्रकाशित काव्य-संग्रह की कविताओं में जैसी ऐन्द्रिकता, संवेदना, और फैन्टेसी में रची कविताएँ देखने को मिलती हैं उन्हें देखकर लगता है कि अश्क न थके थे, न चुके थे बल्कि नई दिशाओं की ओर अग्रसर थे।

उनके नए काव्य-संग्रह की कुछ कविताओं का नामोल्लेख भर करके संतोष करना पड़ रहा है—स्थानाभाव के कारण इनकी विस्तार से, चर्चा यहाँ संभव नहीं है। इस संग्रह में 'अवलंब', 'कगार टूटेगा ही' और 'मेज़ चुप हो गई', 'काग़ज़ प्रतीक्षारत है' और 'बुड्ढा' जैसी विभिन्न शेड्स की कविताएँ हैं जिन्हें अश्क की अनुभूति का स्पर्श तो मिला ही है, निजी अनुभव को व्यापकता भी प्राप्त हुई है। सरलता और सहजता पहले की भाँति यहाँ भी यथावत् है।

अश्क जी की कविता के साथ उनकी ग़ज़लगोई अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। जीवन के प्रारंभिक दौर से शुरू हुई उनकी ग़ज़लगोई अंतिम दौर तक सहयात्री रही है। *अदृश्य नदी*

काव्य-संग्रह से शुरू होकर उनकी ग़ज़लें उनके हर नए काव्य-संग्रह का हिस्सा बनती रही हैं। स्वयं अश्क जी का कहना है, "यद्यपि मुझे अब हिन्दी कविता करते हुए चालीस वर्ष हो गए हैं तो भी मुझे उर्दू ग़ज़ल प्रिय है और कभी जब तबीयत हाज़िर होती है अथवा ज़रूरत पड़ती है, दो-चार शेर चुस्त हो जाते हैं। कभी-कभी तो ऐसे जो हस्ब-ए-हाल होते हैं, याने मन की या तन की वातावरण की या परिवेश की स्थिति पर पूरे उतरते हैं।" (*आधुनिक कवि*–18, पृ. 21)

अश्क जी की ग़ज़लों में भीतरी और बाहरी संसार की झलक देखने को मिलती है। यानी एक ओर जहाँ सामाजिक सरोकार उनकी ग़ज़लों का हिस्सा है तो दूसरी ओर उनकी निजी अनुभूतियाँ। उनकी ग़ज़लों में फक्कड़ता, मस्तमौलापन और सहजता के साथ-साथ व्यंग्य का स्पष्ट रूप भी देखने को मिलता है। कुछ शेर इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं–

हाय क्या दौर है, पहलू में धड़कती हुई शै
संग या ख़ार बने, दर्दभरा दिल न बने।

गो रहे नान-ए-जवीं के लिए मुहताज मगर
हम दर-ए-मुनइम-ए-कमज़र्फ़ के साइल न बने।

जहूर जिसका सितम हो करम के पर्दे में,
सितम-ज़रीफ़ ख़ुदा से बड़ा नहीं कोई।

ये तकाज़ा-ए-दयानत है या एहसास-ए-अना,
खूबी देखी है जो दुश्मन में उसे माना है।

उम्र ने बाँध दिया जिस्म को इक हुजरे से,
दिल है कमबख़्त कि उड़ने के बहाने माँगे।

मेरी शोहरत है कि रुस्वाई जो सच्चे-झूठे
सारे आलम में हैं, अब आम फ़साने मेरे।

क़ौम जब फोड़ ले खुद दीदा-ए-बीना अपना,
उसके आज़ा की हिफ़ाज़त का खुदा हाफ़िज़ है।

जब हज़फ़ कर दें सक़ाफ़त से अदब को हाकिम,
उन गँवारों की हुकूमत का खुदा हाफ़िज़ है।

फैंक दें चाहे हवादिस राह से हर बार दूर,
जाएगी मंज़िल कहाँ जब ज़िन्दगी मंज़िल में है।

उठाओ बिसात अश्क बस भी करो,
तुम्हें जाना अब अपने घर चाहिए।

संस्मरणकार अश्क

संस्मरण अपेक्षाकृत जटिल विधा है। लेखक की सजगता और संवेदनशीलता के संतुलन की इस विधा में सबसे अधिक आवश्यकता होती है। कोरी संवेदनशीलता संस्मरण को गलदश्रुपूर्ण बनाकर सामयिक महत्त्व की चीज़ बना देती है। ऐसे संस्मरणों में श्रद्धा जनित सम्मान का भाव संस्मृत को 'देवपुरुष' सदृश्य बना देता है जो मुख्य पात्र को ठीक परिप्रेक्ष्य में देखने में बाधा बन जाता है। कोरी सजगता संस्मरणकार को अपनी परतें खोलने से रोकती हैं और संस्मृत की छीछालेदारी तक ले जाती है। संस्मृत के सभी दोषों, दुर्गुणों को व्यक्त करने में ही संस्मरणकर्ता अपने कार्य की महत्ता देखने लगता है। इसलिए इन दोनों अतियों से बचने की आवश्यकता है। सजग दृष्टि संस्मरणकर्ता को तटस्थता और निःसंगता प्रदान करती है तो संवेदनशीलता एक मानवीय संस्पर्श जिसके कारण वह संस्मृत को मज़ाक या आलोचना का शिकार होने से बचा लेता है।

संस्मरण लिखते समय सुनी-सुनाई बातों से आगे बढ़कर लेखक व्यक्तिगत, प्रत्यक्ष संपृक्ति, व्यक्तिगत जानकारी के क्षेत्र में प्रवेश करता है। यही नहीं वह स्वयं एक पात्र होता है। वह जिस निस्संगता से किसी व्यक्ति के चरित्र, स्वभाव अथवा जीवन की सूक्ष्म विशेषताओं और गहराइयों के अंदर पाठकों को झाँकने का अवसर प्रदान करता है, उसी निःसंगता और वस्तुपरकता से उसे अपनी पोल खोलनी होती है और यह बात संस्मरण का प्राण तत्त्व है। तटस्थ, निर्ममता के साथ सहानुभूति और सदाशयता का तत्त्व संस्मरण को स्थायित्व प्रदान करता है अन्यथा यह श्रद्धा-विगलित भावुकता परिचय या व्यक्तिपूजा या आलोचना तक सीमित होकर रह जाता है।

पचास के दशक तक हिन्दी में संस्मरण साहित्य बहुत कम रचा गया और जो रचा गया वह श्रद्धा सुमन से अधिक महत्त्व नहीं रखता था। ऐसे में अश्क जी का *मंटो : मेरा दुश्मन* प्रकाशित हुआ जिसने हिन्दी की संस्मरण विधा को एक मानक स्तर प्रदान किया।

अश्क ने संस्मरण लेखन की मूल प्रेरणा अपने उर्दू के सहयोगियों से प्राप्त की है। अश्क जी का अपना कहना भी यही है। लेकिन पहले संस्मरण की प्रेरणा उन्हें पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के संस्मरणों से मिली। तब उन्होंने अख़्तर शेरानी संस्मरण लिखा। फिर उन्हें *हंस* पत्रिका के वृहद रेखाचित्र विशेषांक में श्रीमती लीलावती मुंशी का अपने पति कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी पर लिखा संस्मरण पढ़ने को मिला। "उसकी सबसे बड़ी ख़ूबी यह थी कि जहाँ अन्य लेखकों ने श्रद्धा भक्ति अथवा प्रशंसा भरे रेखाचित्र

लिखे थे, वहाँ श्रीमती मुंशी ने अपने पति के स्वभाव के अच्छे-बुरे सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला था।" (*आसमाँ और भी हैं*, पृ. 15)। इसके बाद उन्हें इस्मत चुग़ताई का अपने सगे भाई अज़ीम बेग चुग़ताई पर लिखा संस्मरण 'दोज़खी' पढ़ने को मिला, "संस्मरण इतना सच्चा, खुला, दयानतदारी लेकिन इसके बावजूद गहरे दर्द से ओत-प्रोत था कि उसे बार-बार पढ़ने पर भी तृप्ति न होती थी।" फिर साहिर लुधियानवी का देवेन्द्र सत्यार्थी पर लिखा संस्मरण पढ़ने को मिला। "सत्यार्थी की कोई ही ऐसी बुराई होगी, जिसका उल्लेख इस संस्मरण में न हो, लेकिन साथ ही साहित्य में विशेषकर लोक गीतों के क्षेत्र में सत्यार्थी ने जो काम किया है और जिस निष्ठा और लगन से किया, उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन और प्रशंसा उस संस्मरण में है। साहिर प्रसिद्ध कवि हैं, पर मेरा ख़्याल है, यह संस्मरण उनकी सब कविताओं पर भारी है।" (वही, पृ. 16)

इस प्रेरणा-स्रोत और संस्मरण के मूल प्राणतत्त्व को समझ लेने के बावजूद अश्क जी के पहले संस्मरणों में श्रद्धा और भावुकता का अंश अधिक है। अख़्तर शेरानी तो अश्क के कॉलेज के दिनों के उनके प्रिय शायर थे सो श्रद्धा का भाव स्वाभाविक है। फिर दृष्टि में वैसी परिपक्वता भी नहीं थी। संभवतः इसलिए वह इसे दोबारा लिखने की सोचते थे। दूसरा संस्मरण कश्मीरी लाल 'अश्क' पर है जो उनके लड़कपन के हीरो थे। उन्हीं की जवानी में मृत्यु के दुःख को सदा याद रखने के लिए अश्क जी ने अपना नाम 'शनावर' छोड़कर 'अश्क' रख लिया था। इन दोनों संस्मरणों की विशेषता यही है कि ये सहज करुण और प्रभावी हैं। कश्मीरी लाल अश्क पहले संस्मरण रूप में *काले साहब* में छपा फिर किंचित बदले रूप में *एक नन्ही किन्दील* का हिस्सा बन गया।

इसके बाद अश्क जी ने 'अड्डी चुक्क भूतना' तथा 'मौसी' संस्मरण लिखे। 'अड्डी चुक्क भूतना' को अश्क अपने सब संस्मरणों में सफल मानते हैं। दूधनाथ सिंह इसे अत्यंत परिपक्व और सधी हुई भाषा में लिखा गया संस्मरण मानते हैं। इस संस्मरण में अश्क जी ने अपने स्कूल जीवन के एक ऐसे अध्यापक का ख़ाका खींचा है जो 'भूतना' नाम से प्रसिद्ध था और जिसका आतंक पूरा स्कूल मानता था। अश्क ने उसकी पारिवारिक स्थिति का जो संक्षिप्त मगर स्पष्ट संकेत दिया है, वह इस निर्मम अध्यापक के 'क्रूर' व्यवहार से उत्पन्न क्षोभ को कुछ कम कर देता है। 'मौसी' संस्मरण अश्क जी के यहाँ काम करनेवाली एक काली, कुरूप और बेहद सुस्त नौकरानी से संबंधित है। इस संस्मरण में भी अश्क की निःसंगता ने 'मौसी' के गुण और दोष पूरी तरह स्पष्ट रूप से उभारे हैं। दूधनाथ सिंह ने इस संस्मरण को रेखाचित्र स्वीकार किया है जबकि लेखक इसे शत प्रतिशत संस्मरण मानता है।

मंटो : मेरा दुश्मन (1956) अश्क जी का ही नहीं, हिन्दी के संस्मरण साहित्य में भी एक मील के पत्थर का स्थान रखता है। इस संस्मरण की हिन्दी में काफ़ी तीखी प्रतिक्रिया हुई थी। इसका मुख्य कारण जानने के लिए हिन्दी और उर्दू संस्मरण परंपरा को समझना आवश्यक होगा क्योंकि उर्दू में इस संस्मरण की वैसी प्रतिक्रिया नहीं हुई

जैसी हिन्दी में। उर्दू के साहित्यिक ऐसे खुले संस्मरणों के अभ्यस्त हो चुके थे। इस्मत चुग़ताई के अपने सगे भाई प्रसिद्ध हास्य-रस, लेखक अज़ीम बेग चुग़ताई की मृत्यु पर लिखे संस्मरण 'दोज़खी' ने "जहाँ उर्दू के साहित्यिकों को चौंकाया, वहाँ संस्मरण लेखन की नई शैली का आविर्भाव भी किया।" (*मंटो : मेरा दुश्मन*, पृ. 21) इसी परंपरा में साहिर लुधियानवी का संस्मरण 'देवेन्द्र सत्यार्थी' पर निकला। फिर मंटो के संस्मरण जिनमें उनकी 'शैली का चुटीलापन, उनकी उपमाओं का अनोखापन, उनकी भाषा का टकसालीपन, उनके व्यंग्य का नश्तर सरीखा तीखापन और उसकी कटुता का कसैलापन—सब कुछ उनमें है। (वही) उर्दू के साहित्यिक और पाठक ऐसी बेबाक संस्मरण शैली से परिचित थे, सो *मंटो : मेरा दुश्मन* उनके लिए इसी परंपरा की एक कड़ी था। इसके विपरीत, "हिन्दी में संस्मरणों की ऐसी खुली और बेबाक परंपरा का नितांत अभाव रहा है।" (वही, पृ. 22) यहाँ बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे संस्मरणकार थे जिनके संस्मरणों में श्रद्धा भक्ति अथवा स्नेह-सरपरस्ती का भाव रहता था। महादेवी वर्मा के संस्मरण थे जिनमें उनके "काव्य की करुणा और माधुर्य अनायास" (वही, पृ. 23) आ गया है। "एक तीसरी तरह के संस्मरण इधर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में यथेष्ट संख्या में छपे हैं। संस्मरण लेखक कवियों तथा कथाकारों से मिलता है, कुछ प्रश्न पूछता है, उनके उत्तर लेता है। इसके बाद संस्मरण लिखकर उन्हीं के पास भेज देता है कि कृपाकर आप इसे सुधार दीजिए और लेखक अपनी इच्छा के अनुसार उसे तैयार कर देता है।" (वही, पृ. 23) ये तीनों तरह के संस्मरण हिन्दी में प्रचलित थे जो उर्दू की नई संस्मरण शैली से भिन्न थे। अतः *मंटो : मेरा दुश्मन* संस्मरण उनकी स्थापित और अभ्यस्त रुचि के विपरीत था—सो ख़ूब हंगामा हुआ। लेकिन आज भी यह संस्मरण एक मानक मानदंड की हैसियत रखता है। राजेन्द्र यादव इसे आज भी हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ संस्मरण मानते हैं। धर्मवीर भारती का कहना है कि इस संस्मरण से, "हिन्दी लेखक ने मनुष्य को बिल्कुल मनुष्य के धरातल पर समझने की कोशिश की।" दूधनाथ सिंह का वक्तव्य इस संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सत्य है, "सच बात यह है कि इस संस्मरण को पढ़कर पाठक एक बार स्तंभित और अभिभूत रह जाता है। एक रस्साकशी का बिम्ब सारे संस्मरण के दौरान पाठक के दिमाग़ में छाया रहता है। उतना ही गहरा उत्सुक, झुँझलाहटपूर्ण और एकटक तनाव जिसमें हार-जीत का कोई फ़ैसला नज़र नहीं आता और अंत में एक झटके से जो मुँह के बल गिर पड़ता है, वह पाठक के साथ ही विजेता की भी सारी करुणा का अधिकारी बन जाता है। लेखक स्वयं अपने पाठक के सम्मुख खड़ा है। कटघरे में। वह अपराधी भी है न्यायकर्ता भी। वह अपनी निर्ममता में न खुद को छोड़ता है, न अपने प्रतिद्वंद्वी को जो अंदर से उतना ही स्वच्छ, निर्मल, उदारचेता, किन्तु कठिन अहं से वशीभूत, निर्मम और न झुकनेवाला है। दृष्टि की तटस्थता और कथन की निर्ममता *मंटो : मेरा दुश्मन* में अद्वितीय है। यह संस्मरण हिन्दी में बेजोड़ है

और उसके मूल में है मंटो के प्रति अश्क के अंतरमन में छिपे आस्था, सहानुभूति और स्नेह के कण। अनचाहे भी जीवन भर लड़ते रहने की क्रूर नियति के पीछे जो सदाशयता और गहरे प्रेम का पारदर्शी भाव निहित है, वह स्फटिक के नीचे बहते हुए स्वच्छ जल की तरह हर जगह झलक मारता चलता है। साथ ही अश्क ने मंटो की कहानियों की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह अपने ढंग से काफ़ी सुलझी हुई और सुरुचिपूर्ण है। मंटो की रचना प्रक्रिया की विसंगतियों, आवेगों और अनुशासनों पर अश्क ने अपनी निजी रचना प्रक्रिया के आलोक में काफ़ी प्रकाश डाला है। साधारण से साधारण पाठक भी इस संस्मरण को पढ़ने के पश्चात् यह समझ लेगा कि यह दो दुश्मनों की नहीं, बल्कि किन्हीं विचित्र सी परिस्थितियों में पड़कर अहं के वशीभूत हो लड़नेवाले (किन्तु अंदर-ही-अंदर प्यार की अभिभूतता से विगलित) दो दोस्तों की कहानी है। जिन्होंने इसे पढ़कर अश्क को मंटो का दुश्मन या मंटो को अश्क का दुश्मन समझ लिया वे धन्य हैं।" (*परतों के आर पार*, पृ. 13)

दरअसल यह संस्मरण एक अक्खड़ और फक्कड़ साहित्यकार का दूसरे अक्खड़ और फक्कड़ साहित्यकार पर लिखा गया संस्मरण है जो कहीं भी अपनी बेलाग शैली को छोड़े बिना अपना प्रेम, आस्था और स्नेह 'सरस्वती' नदी की भाँति अदृश्य रखते हुए बहता चला गया है। ये संस्मरण मंटो के व्यक्तित्व पर ही नहीं, लेखक अश्क के व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डालता है। यह इस संस्मरण की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

इस संस्मरण के बाद अश्क जी ने होमवती तथा यशपाल पर संस्मरण लिखे जो पहले *रेखाएँ और चित्र* (1955) तथा फिर *परतों के आर पार* में 1965 संकलित हुए। 'होमवती' के संस्मरण में उनकी स्नेहशीलता और सौम्यता की झलक मिलती है। 'यशपाल' एक गंभीर, प्रतिबद्ध, तीखे और खुरदरे, किन्तु सहज हाज़िर-जवाब लेखक के रूप में सामने आते हैं। इनके अपार परिश्रम एवं आत्म-विश्वास का भी बड़ी सजगता से चित्रण इस संस्मरण में हुआ है।

इन दो संस्मरणों के अतिरिक्त *परतों के आर पार* संस्मरण संग्रह में निराला, राजेन्द्र सिंह बेदी, नवीन, इंद्रनाथ मदान, राजेन्द्र यादव पर संस्मरण संगृहित हैं। निराला पर लिखा गया संस्मरण दूधनाथ के शब्दों में, "उनकी कुंठाओं और महानताओं पर एक नए और सर्वथा अछूते कोण से रोशनी फेंकता है।" इंद्रनाथ मदान पर रचित संस्मरण में मदान साहब की मानवीयता ही उभर कर सामने आती है। ठीक वैसे ही बेदी पर लिखा संस्मरण अश्क की उनके प्रति गहरे लगाव और आत्मीयता का पता देता है। इस संस्मरण में अश्क की बेलाग शैली ग़ायब है। हाँ बेदी की नर्मदिली, उच्चाशयता, संतों की-सी उदारता, भावुकता और उदासी का जो रूप उभर कर सामने आता है, वह अनुपम है। 'नवीन' जी पर लिखा गया छोटा-सा संस्मरण उनकी संवेदनशीलता, सुहृदयता का पता देता है।

इस संग्रह का एक महत्त्वपूर्ण संस्मरण राजेन्द्र यादव पर है। इसमें अश्क के लेखन की वो सब विशेषताएँ देखने को मिलती हैं जो *मंटो : मेरा दुश्मन* का प्राणतत्त्व है। फ़र्क़ यह है कि ये संस्मरण तथाकथित दुश्मन पर नहीं है। इसमें अश्क ने राजेन्द्र यादव की साहित्येतर मनःस्थिति का आकलन अत्यंत सहजता और कठोर सहानुभूति से किया है। अश्क जी को अपने इस संस्मरण को लेकर अफ़सोस है क्योंकि राजेन्द्र यादव के साहित्य के प्रति आस्था इस संस्मरण के मूल में है। अश्क कहते हैं, "उनमें ग्रहणशीलता है, भाव प्रवणता है, अपने लेखन के प्रति गंभीरता और अपनी रचनाओं का जायज़ा लेते रहने की प्रवृत्ति है।" (*परतों के आर-पार*, पृ. 168) अश्क का यह संस्मरण निस्संदेह हिन्दी के बेहतरीन संस्मरणों में एक है।

परतों के आर-पार के बाद *आसमाँ और भी हैं* (1973) नाम से अश्क जी के संस्मरण प्रकाशित हुए। इस संग्रह में श्रीमती महादेवी वर्मा, शिवपूजन सहाय, बच्चन, माखन लाल चतुर्वेदी, चंद्रहासन जी, गोपाल प्रसाद व्यास, धर्म प्रकाश आनंद तथा परिशिष्ट में अख़्तर शेरानी पर संस्मरणों के साथ दो संस्मरण अश्क जी के जीवन से संबंधित हैं।

इन संस्मरणों में अश्क जी की शैली की सभी विशेषताएँ देखने को मिल जाती हैं। महादेवी वर्मा, शिवपूजन सहाय तथा माखन लाल चतुर्वेदी जी के बारे में लिखे गए संस्मरणों में अश्क जी की अपने अग्रजों के प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना का पता चलता है। लेकिन इस बात के प्रति वे सजग हैं कि इन अग्रजों को वे इंसान ही रखें, उन्हें 'मिथ' या 'देवत्व' न प्रदान करें। इन लोगों की मानवीयता अपने अनुभवों के उदाहरणों द्वारा उद्घाटित की गई है। 'बच्चन' पर लिखा गया संस्मरण उनके फक्कड़पने के साथ-साथ ठंडी औपचारिकता को भी स्पष्टतः उद्घाटित करता है। इस संस्मरण तथा माखन लाल चतुर्वेदी पर लिखे संस्मरण में हरिकृष्ण प्रेमी के व्यक्तित्व पर भी भरपूर प्रकाश पड़ता है, जिसे लिखने में अश्क जी ने कोई संकोच नहीं किया है। अश्क जी ने यहाँ स्पष्टवादिता से काम लिया है। गोपाल प्रसाद व्यास पर लिखा छोटा-सा संस्मरण उनके व्यक्तित्व की सहजता और उन्मुक्तता का परिचय देता है। चंद्रहासन जी पर संस्मरण उनके व्यक्तित्व की व्यावहारिकता पर प्रकाश डालता है। मगर साथ ही दक्षिण भारत की यात्रा का भी संस्मरण है। चंद्रहासन जी का व्यक्तित्व पूरी तरह से उभरकर सामने नहीं आता, इसके विपरीत 'धर्म प्रकाश आनंद पर लिखा संस्मरण अश्क के इस बचपन के मित्र के व्यक्तित्व के विकास और प्रतिभा का स्पष्ट अंकन करता है।

'मेरी जिन्दगी का पहला मोड़' में अश्क जी ने अपने जालंधर छोड़कर लाहौर चले जाने के कारण का मार्मिक वर्णन किया है और 'ज़िन्दगी कहिए इसे या...' में जैनेन्द्र तथा अज्ञेय की सहजता के दो बहुत ही सुंदर उदाहरण दिए हैं।

इन संस्मरणों में अश्क जी की बेलौस और बेबाक शैली के दर्शन नहीं होते। सहजता, स्वाभाविकता, प्रवाहपूर्ण भाषा के यहाँ स्पष्ट दर्शन होते हैं। सभी संस्मरणों में

आत्मीयता, संलग्नता का संस्पर्श देखने को मिलता है जिसके कारण ये संस्मरण उल्लेखनीय हो उठे हैं क्योंकि ये अपना प्रभाव छोड़ते हैं।

इन संस्मरणों के साथ ही *खोने और पाने के बीच* (1982) में प्रकाशित 'फ़ैज़ : दो रूप' संस्मरण को रखना चाहूँगा। 'फ़ैज़' पर संस्मरण लिखते समय अश्क जी ने जैसी तटस्थता और दयानतदारी का परिचय दिया है, वह वाकई उल्लेखनीय है। 'फ़ैज़' के औपचारिक और अंतरंग दोनों रूपों के वर्णन के साथ-साथ उनके काव्य के मूल स्वर का भी अश्क जी ने परिचय दिया है।

इन संस्मरणों के अतिरिक्त अश्क जी ने अपनी जिन्दगी से संबंधित संस्मरण भी लिखे हैं। ठीक 'मौसी' या 'अड्डी चुक्क भूतना' की भाँति ऐसे संस्मरणों में 'इश्क पेचा और जंजीर', 'उतरा और मूँछे', 'बोल क्रिण बलदेव की जय' (*ज्यादा अपनी कम परायी,* 1959) 'सो वर्क हार्ड माई डियर' (*उस्ताद की जगह ख़ाली है,* 1985) इन संस्मरणों में अश्क की सहज संवेदनशीलता, जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण और छोटी-छोटी अमिट छाप छोड़ गई घटनाओं का ब्यौरा दिया है। *गुलज़ार (खोने और पाने के बीच)* को संस्मरण कहना शायद उचित नहीं क्योंकि इसमें *गुलज़ार* की फिल्मों का विश्लेषण भर है जिसे आलोचना के अंतर्गत रखना उचित होगा। अश्क के इन संस्मरणों में कथा का-सा रस, इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसी वजह से ये संस्मरण पठनीय और स्मरणीय हैं। प्रयाग शुक्ल ने अश्क के संस्मरण के विषय में ठीक ही लिखा है, "अश्क के संस्मरणों को पढ़ते हुए लगता है कि अश्क 'भूले' नहीं हैं—जानबूझ कर उन्होंने बातों और चीज़ों से अपने को छुड़ाने की और उन्हें घटाने-बढ़ाने की कोशिश नहीं की है। कड़वी-मीठी बातों को और जीवन के गर्म-सर्द को याद करते हुए वे किसी ओर बचकर नहीं निकल जाना चाहते। जो कुछ बीत गया, उसे लिखते हुए, उसका 'सामना' करते हुए, वे उसे फिर 'जीवित' कर देते हैं। इसलिए उनके संस्मरणों में ताज़गी है और एक अपनापन है।"

अश्क जी के संस्मरणों की अंतिम कड़ी है *बेदी : मेरा हमदम मेरा दोस्त* (1986)। *मंटो : मेरा दुश्मन* की भाँति यह एक पूरी पुस्तक है जिसमें बेदी से संबंधित संस्मरण तो हैं ही, उनकी कहानियों पर एक विस्तृत लेख तथा पत्र संकलित हैं। जहाँ तक संस्मरण का संबंध है 'स्फटिक गहराइयाँ' *(परतों के आर-पार)* में भले ही अश्क ने बेदी के दोषों को छोड़ दिया हो, उनके गुणों का ही सकारात्मक स्तर पर वर्णन किया हो, मगर इस किताब में संकलित 'अस्फुट शब्दों में कसमसाता लेखक' तथा 'एक संवेदनशील कथाकार की ट्रैजिक दास्तान' जैसे संस्मरणात्मक लेखों के द्वारा पूरी स्पष्टवादिता और तटस्थता से उनके दोषों का भी वर्णन किया है। बेदी की ट्रैजिडी से जहाँ पाठक परिचित होता है, वहीं उसके मूल मनोवैज्ञानिक कारणों का भी उसे पता चलता है। इस पुस्तक में अश्क की

सच्चाई, पैनापन, हमदर्दी और संबंधों की सूक्ष्म-सूक्ष्म परतों को उजागर करने वाली दृष्टि का पता चलता है। इसमें बेदी के चरित्र की ख़ूबियों और खामियों का जिस तटस्थता से वर्णन हुआ है, शायद ही किसी साहित्यकार पर ऐसी बेलाग टिप्पणी किसी ने की है। अपनी चालीस साल की मैत्री का लेखा-जोखा देते हुए बेदी की ट्रेजिडी का जिस तकलीफ़ से अश्क ने वर्णन किया है, वह स्पृहणीय है। बेदी के बारे में अश्क का कहना है, "अपने तमाम गुनाहों के बावजूद बेदी एक निहायत शरीफ़ और कपैशनेट और कमज़ोर इंसान था। उसमें ऐग्रेसिवनेस का नितांत अभाव था। उसकी ऐग्रेसिवनेस भी उसकी कमज़ोरी का ही दूसरा रूप था। उसकी शराफ़त ने हमेशा मेरे दिल में उसके लिये इज़्ज़त पैदा की और उसकी कमज़ोरियों पर मुझे सदा अफ़सोस हुआ, उसकी शराफ़त ने हमेशा दूसरों को लाभ पहुँचाया और उसकी कमज़ोरियों ने अधिकांशतः अपना ही अहित किया।" (*बेदी : मेरा हमदम मेरा दोस्त,* पृ. 35)।

बेदी के आईने में स्वयं को देखते हुए अश्क ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है, "मैं जो नहीं हूँ, वह इसलिए कि बेदी वैसा था और मैं वैसा नहीं होना चाहता था और मैं जो हूँ, वह इसलिए कि बेदी वैसा नहीं था और मैं वैसा होना चाहता था।" (वही) अश्क की परिपक्व और सूक्ष्म दृष्टि का भरपूर परिचय इस पुस्तक में मिलता है।

अश्क जी के संस्मरणों की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो बरबस हमारा ध्यान अपनी तरफ़ खींचती हैं। पहली विशेषता उनकी बिना लाग-लपेट के सच्चाई को बयान करना है। मंटो हो या बच्चन या फ़ैज़ या हरिकृष्ण प्रेमी या राजेन्द्र यादव अश्क जी ने सत्य कथन से आँख नहीं चुराई। इस प्रक्रिया में उनका अपना चेहरा कितना उघड़ा है, इसकी उन्होंने परवाह नहीं की। उन्होंने कहा भी है, "मैं संस्मरण की ख़ूबी पूर्णतः सच्चाई मानता हूँ। संस्मरण और आत्मकथा की शर्त, मेरे निकट, सच्चाई और शत-प्रतिशत सच्चाई है।" (*आसमाँ और भी हैं,* पृ. 24)

दूसरी ख़ूबी इस सच्चाई को प्रकट करते समय इस बात के प्रति विशेष सजगता है कि उनके द्वारा संस्मृत व्यक्ति के केवल दोष ही उद्घाटित न हों, ऐसा होने पर वह व्यक्ति मात्र मज़ाक़ या व्यंग्य का पात्र बन कर रह जाएगा। अश्क ने अपनी आस्था, आत्मीयता का संस्पर्श बराबर बनाए रखा है और उन व्यक्तियों की ख़ूबियों को नज़रअंदाज़ नहीं किया।

इन संस्मरणों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी पठनीयता है। प्रवाहमान भाषा के साथ-साथ रोचकता को बनाए रखने की कला अश्क की अपनी विशेषता है। बोल-चाल की आम भाषा में वे कुछ इस प्रकार घटनाओं का संयोजन करते हैं कि पाठक उनके साथ-साथ बहता चला जाता है और व्यक्ति का चित्र उसके सामने उजागर हो जाता है। संस्मृत व्यक्तियों के साथ अपने मतभेद अश्क जी ने छुपाए नहीं। शायद यही स्पष्टवादिता इन संस्मरणों के महत्त्व को बढ़ा देती है। इसमें संदेह नहीं कि पठनीयता

और रोचकता के समावेश में अश्क का कथाकार पूर्णरूप से सहायक सिद्ध हुआ है। तभी *मंटो : मेरा दुश्मन* जैसा संस्मरण अपनी लंबाई के बावजूद कहीं बोझिल नहीं हुआ है। हिन्दी के संस्मरण साहित्य को अश्क जी ने जो वक़ार बख़्शा है, उसे नज़रअंदाज़ करके इस विधा की बात नहीं की जा सकती। अश्क जी के संस्मरण सदैव एक मज़बूत बुनियाद का काम करते रहेंगे।

अन्य गद्य लेखन

अश्क जी में लिखने की अपार क्षमता थी। इसलिए वह इतना वैविध्यपूर्ण साहित्य सृजन कर सके। उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक और एकांकी जैसी मुख्य विधाओं में तो उनका योगदान है ही, अन्य नव्यतर विधाओं–निबंध, संस्मरण, आलोचना, आत्मकथा आदि में भी उन्होंने कम नहीं लिखा। उनकी सभी रचनाओं का परिचय भर दे पाना भी यहाँ असंभव है। अतः कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं को आधार बनाकर ही बात करने का प्रत्यन किया गया है।

(क) आलोचना

अश्क जी की आलोचना या समीक्षा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उनकी निष्पक्षता है जिसके कारण वे अकसर अपने मित्रों की नाराज़गी और दुश्मनी का शिकार हुए हैं। उनकी निष्पक्षता का इससे बड़ा सबूत क्या हो सकता है कि अपने माने हुए विरोधी (या शत्रु) की यदि किसी उत्कृष्ट रचना की बात चली तो उन्होंने अपने विरोध या शत्रुता को परे रखते हुए उसकी भरपूर प्रशंसा की और अपने मित्र की कमज़ोर रचना की आलोचना की, इस बात की परवाह न करते हुए कि वह मित्र नाराज़ होगा। आलोचना का यह गुण अश्क की अपनी विशेषता है जिसका लोहा उनके शत्रु भी मानते हैं।

उनकी समीक्षा की दूसरी विशेषता आत्मीयता है। शास्त्रीय व्याख्या को एक तरफ़ रखकर भले ही उन्होंने निर्ममता से रचना पर लिखा हो, पर एक आत्मीयता का संस्पर्श वे अपने हाथ से नहीं जाने देते। रचना के साथ एक गहरा लगाव उनके यहाँ दिखाई पड़ता है, जिसके कारण यह एहसास सदा बना रहता है कि यह समीक्षा सहधर्मी रचनाकार की है–कोरे आलोचक की नहीं। अश्क जिस भाषा में रचना के गुण-दोषों का विवेचन करते हैं, वह भाषा आलोचना की शास्त्रीय शब्दावली से भिन्न हैं। अतः संप्रेषण की समस्या यहाँ दिखाई नहीं पड़ती। अपनी बात को मनवाने का हुनर अश्क जी को आता है। परिणामतः वह रचना में जिन दोषों की बात करते हैं, उन्हें सप्रमाण उद्धृत करते हैं।

अश्क जी के बारे में यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि अपने समकालीन रचनाकारों के कृतित्व पर शायद ही किसी ने इतना लिखा हो। अपने समकालीन नए-पुराने सभी रचनाकारों को गहरे लगाव के साथ उन्होंने पढ़ा ही नहीं उसे परखा भी है और उस पर बिना किसी लाग-लपेट के प्रतिक्रिया भी दी है। अश्क के कई पत्र नए रचनाकारों को

उनकी रचनाओं को पढ़कर बिना किसी पूर्व परिचय के लिखे गए। रवीन्द्र कालिया ने अश्क जी से लिए साक्षात्कार *विवादों के घेरे में* में इसे स्वयं स्वीकार किया है। (पृ. 95) 'अश्क 75' में संकलित उदयप्रकाश को लिखा गया पत्र भी इसका प्रमाण है।

एक लंबे अर्से तक रचनाशील रहने के साथ-साथ अश्क जी निरंतर अध्ययनशील रहे। परिणामतः प्रेमचंद से लेकर पंकज बिष्ट तक का रचना संसार उनके सामने रहा और उन पर अपनी स्पष्ट और निर्भीक टिप्पणी भी देते रहे। उल्लेखनीय ये भी है कि इसके लिए अश्क जी ने केवल एक ही माध्यम-लेख या निवंध का ही आश्रय नहीं लिया, साक्षात्कार को भी अपना लिया, पत्र को भी।

इस संदर्भ में पुनः अश्क के तीखे व्यंग्य की बात न करना उनके साथ अन्याय करना है। इन लेखों, टिप्पणियों, साक्षात्कारों में उनके व्यंग्य के छींटे कहीं अत्यधिक गांभीर्य को कम करते हैं तो कहीं उस संदर्भ की अपने ढंग से व्याख्या करते हैं। रोचकता का समावेश तो होता ही है।

इस संदर्भ में अश्क जी की *हिन्दी कहानियाँ और फैशन* (1964), *हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय* (1967), *कुछ दूसरों के लिए* (1968), *कहानी के इर्द गिर्द* (1972), तथा साक्षात्कार आदि का उल्लेख किया जा सकता है। *हिन्दी कहानियाँ और फैशन* में अश्क जी का भाषण, उसकी रचना प्रक्रिया तथा एक लंबा साक्षात्कार है। पर्याप्त विवाद का विषय रही यह पुस्तक खरेपन में आज भी अद्वितीय है। इस पुस्तक पर दूधनाथ सिंह का कथन ही पर्याप्त है "अश्क ने भाषण में कहीं पर भी दुराग्रह की झलक नहीं थी। एक ओर उन्होंने जहाँ खुले रूप में घटिया क़िस्म के नए कहानीकारों की कड़ी आलोचना की, वहीं पर सच्चे प्रतिभाशाली और ईमानदार नए कहानीकारों की कला का खुला समर्थन भी किया।"

हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय भी एक दस्तावेज़ का स्थान रखती है। इसमें नई कहानी तथा सातवें दशक की कहानी पर स्पष्ट और बेबाक लेख हैं, कहानी कला को लेकर निबंध है, तथा अपनी और दूसरों की कहानियों को लेकर लिखे गए पत्र हैं। समकालीन लेखकों पर टिप्पणियाँ हैं। प्रेमचंद युग तथा उसके बाद विकसित और उद्भासित अनेक आंदोलनों और कहानी के वस्तु तथा शिल्प संबंधी परिवर्तनों पर उन्होंने अत्यंत सतर्कता से कलम चलाई है। इसमें नई कहानी आंदालन के तथ्यों, उनकी आंतरिक दुर्बलताओं और उपलब्धियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है तो साथ ही सातवें दशक के कहानी-आंदोलनों की भी उतनी ही निर्ममता से समीक्षा की है।

कुछ दूसरों के लिए... अपने ढंग की हिन्दी की एक अकेली किताब है। अश्क ने अपने साहित्यिक जीवनानुभवों के आधार पर इन लेखों की रचना अत्यंत समझदारी से की है। इसमें रचनात्मक लेखन के क्रम में आनेवाली कठिनाइयों का विशद विश्लेषण करने के साथ-साथ अश्क जी ने लेखक के सृजनात्मक धर्म को भंग करनेवाली उन सभी स्थितियों के प्रति भी सचेत किया है जिनकी लपेट में आकर अनेक जीवंत लेखक

निष्प्राण हो गए। सरसरी तौर पर पढ़ने पर ये लेख मोहन राकेश की भाँति कइयों को 'हिदायत' जैसे लगेंगे। मगर वस्तुतः ऐसा है नहीं। वैसे भी वरिष्ठ साहित्यकार अपने अनुभव से 'नयों' को कुछ तो कह ही सकता है। इस पुस्तक में अच्छी-बुरी कहानी की पहचान के लिए कहानियों के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे अश्क की सजग, सचेत और अन्वेषक दृष्टि के तो परिचायक हैं ही, उनकी निर्भीकता और कहानी की सही पहचान का भी पता देते हैं।

अश्क के आलोचक रूप के दर्शन *अन्वेषण की सहयात्रा* (1973) में होते हैं। इस पुस्तक में उनके लेख, पत्र और प्रतिक्रियाएँ संकलित है। इसमें लगभग 31 पुस्तकों पर अश्क जी की राय—लेखों, पत्रों के रूप में संकलित है। अश्क जी का व्यंग्यकार यहाँ भी सक्रिय है। लेकिन जो बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है वह यह कि इन लेखों, पत्रों को पढ़ते हुए यह एहसास बार-बार होता है कि अश्क भी अपने दूसरे समकालीनों का समानधर्मा और सहयात्री है और कहीं-न-कहीं उनसे तथा उनकी रचनाओं से भावनात्मक स्तर पर जुड़ा है। यह पुस्तक दूसरे सहधर्मियों की रचनाओं के साथ इसी भावनात्मक संपर्क का प्रतिफलन है। यह पुस्तक शास्त्रीय जड़ता को तोड़ती है। इसमें अश्क जी की निष्पक्षता, निर्भीकता और स्पष्टवादिता को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इस संदर्भ में *आधी ज़मीन* (1997) भी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें बीसवीं सदी के शुरुआती दौर की ऐसी प्रमुख कथा-लेखिकाओं के बारे में अश्क जी के विस्तृत समीक्षात्मक लेख हैं, जिन्हें आज भुला दिया गया है। ये आठ लेखिकाएँ हैं—शिवरानी देवी, महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, होमवती देवी, कमला देवी चौधरी, उषा देवी मित्रा, सत्यवती मलिक तथा इस्मत चुग़ताई। इस पुस्तक में 'आधी सदी की कहानी-लेखिकाएँ' लेख भी हैं जो विवाद का विषय रहा है। अश्क जी ने इन लेखिकाओं पर लिखते हुए पूरी संवेदनशीलता से इनकी रचनाओं का जायज़ा लिया है। इन लेखिकाओं की ख़ूबियों-कमियों को रेखांकित करते हुए अश्क जी ने इनके योगदान पर भी प्रकाश डाला है। अपनी सहज, सरल और बेबाक शैली में रचित यह पुस्तक एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ का महत्त्व रखती है क्योंकि इन लेखिकाओं पर इतने विस्तार से किसी साहित्यकार ने नहीं लिखा। अश्क जी का लेख भी उनकी बेबाक शैली का परिचय देता है।

यहाँ अश्क जी के महत्त्वपूर्ण संस्मरण *बेदी : मेरा हमदम मेरा दोस्त* में संकलित 'बेदी के अफ़साने और उनका फ़न' लेख का ज़िक्र भी आवश्यक है। अश्क जी ने अपनी सूक्ष्म मगर स्पष्ट दृष्टि का परिचय देते हुए बेदी की कहानियों का अत्यंत सारगर्भित विवेचन किया है। अश्क जी के महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक लेखों में इसे परिगणित किया जा सकता है।

अश्क जी की आलोचनात्मक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय प्राप्त करने के लिए यहाँ मैं उन कुछ साक्षात्कारों का उल्लेख भी आवश्यक समझता हूँ जिनमें अपनी या किसी

लेखक की रचनाओं पर काफ़ी विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। उदाहरणार्थ *साक्षात्कार और विचार-भाग 1* में प्रेमचंद, जैनेन्द्र कुमार तथा अमरकांत के रचनाकर्म पर अश्क जी से लिए गए साक्षात्कार, *कहानी के इर्द गिर्द* में संकलित अश्क जी की सेक्सी कहानियों से संबंधित साक्षात्कार का उल्लेख किया जा सकता है। *हिन्दी कहानियाँ और फ़ैशन* में संकलित साक्षात्कार तो इस संदर्भ में मील पत्थर है ही। इनमें अश्क जी का कहानी के विषय में दृष्टिकोण, किसी रचनाकार की रचना को परखने की उनकी कसौटी, स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है। अश्क ने अपने आलोचना कर्म को पूरी गंभीरता से लिया और निभाया है। संभवत इसलिए उनकी कुछ स्थापनाएँ आज भी महत्त्वपूर्ण हैं। यदि अश्क जी की आलोचना दृष्टि के मूलाधार का अवलोकन किया जाए तो दो प्रमुख बातें उभर कर सामने आती हैं–

1. उन्होंने आलोचना पहले से सिद्धांत बना कर नहीं की है। यही कारण है कि वे हर प्रकार की रचना की आलोचना कर पाए हैं और कोई सिद्धांत या विचार उस पर आरोपित नहीं किया है।
2. अश्क जी ने यह देखने की कोशिश की है कि लेखक की प्रवृत्ति क्या है और वह अपनी रचना में किस हद तक उसे चरितार्थ कर सका है।

अश्क द्वारा अपनाई गई यह दृष्टि उनकी ईमानदारी का स्पष्ट उद्घाटन करती है। आलोचना के ये मानदण्ड दयानतदारी की माँग करते हैं और प्रत्येक दयानतदार आलोचक के लिए ये मानदंड सदा अनुकरणीय रहेंगे। जहाँ तक अश्क जी की कटुतापूर्ण आलोचना का प्रश्न है सो इस संदर्भ में हरिशंकर परसाई के इस कथन को उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा कि "उनकी आलोचनाएँ कटु हो सकती हैं, मगर बहुत अंशों में सही हैं।"

(ख) साक्षात्कार

अश्क जी के साक्षात्कारों की कुल आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी के शायद ही किसी साहित्यकार की इतनी पुस्तकें इस विधा में प्रकाशित हुई हैं। (अभी अश्क जी के इतने साक्षात्कार अप्रकाशित हैं कि उनकी दो-तीन पुस्तकें और प्रकाशित हो जाएँ। इन पंक्तियों का लेखक इस बात का साक्षी है।)

अश्क जी से जैसे तीखे प्रश्न पूछे गए हैं, हिन्दी के साक्षात्कार साहित्य में देखने को नहीं मिलते। मसलन *कहानी के इर्द गिर्द* (1971) में से रा. यात्री का साक्षात्कार अश्क के जीवन के उस अत्यंत निजी प्रसंग को लेकर है जो अंत तक उन्हें टीसता रहा। अश्क जी की ईमानदारी और स्पष्टवादिता वहाँ देखते ही बनती है। इसी प्रकार रवीन्द्र कालिया का लंबा साक्षात्कार *विवादों के घेरे में* (1986) अत्यंत तीखे प्रश्नों से पूर्ण है जिनके अत्यंत सहजता से अश्क जी ने जवाब दिए हैं। तीखे प्रश्न और उनके वैसे ही तीखे जवाब अश्क जी के साक्षात्कारों में देखने को मिलते हैं। *आमने सामने* (1981)

आप कहें आप कहो (1985), *साक्षात्कार और विचार (तीन भाग–1992)* जैसे साक्षात्कार–संग्रहों में अश्क जी से उनके साहित्य के बारे में तो प्रश्न पूछे ही गए, साहित्य और समाज, सौन्दर्य शास्त्र, भाषा, समाज, शासन, संस्थाओं, रचना प्रक्रिया, हिन्दी उर्दू समस्या, हिन्दी रंगमंच, पंजाब की दुरावस्था, अश्लील, श्लील आदि कितने ही मुद्दों पर अश्क को घेरा गया है। उनकी रचनाओं के साथ-साथ, अन्य साहित्यकारों की रचनाओं पर भी उनके विचार जानने का प्रयत्न हुआ है। इन साक्षात्कारों में चुटीलापन है तो बेबाकी भी है, अश्क जी की स्पष्टवादिता है तो उनकी जीवन-शैली का उद्घाटन भी है। इन साक्षात्कारों में सबसे बड़ी विशेषता इनका बोझिल न होना है। दूसरी विशेषता आत्मविश्लेषण है और अपने दोषों के प्रति भी स्पष्ट स्वीकारोक्ति का भाव है। *रवीन्द्र कालिया* द्वारा लिए साक्षात्कार में *चेहरे अनेक* प्रसंग तथा यात्री का साक्षात्कार इसका स्पष्ट प्रमाण है। इस साक्षात्कारों में अश्क एक चिन्तक के रूप में नहीं बल्कि एक रचनाकार के रूप में उभर कर सामने आते हैं।

अश्क जी की वैचारिक गहराई का पता *गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि* से चलता है जिसमें शौनक द्वारा अत्यंत सूक्ष्मता एवं गहराई से पूछे गए प्रश्नों के अश्क जी ने ठीक परिप्रेक्ष्य में, खरे जवाब दिए हैं। अश्क के *गिरती दीवारें* उपन्यास-माला के पहले तीनों खंडों को गहराई से समझने में यह पुस्तक अत्यंत सहायक है। इस पुस्तक की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता शौनक के प्रश्न हैं। उनकी इस सूक्ष्मता और समझ का पता *साक्षात्कार और विचार* भाग 2 में *बड़ी बड़ी आँखें* पर पूछे गए प्रश्नों से भी चलता है। अतः शौनक की यह पुस्तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

इन साक्षात्कारों में एक दोष है, जिससे मुक्त हो पाना संभवतः संभव नहीं है क्योंकि प्रश्नकर्ता हर बार नया है और उसने कई बार पहले साक्षात्कार देखे या पढ़े नहीं होते। अतः प्रश्नों की तथा साथ ही उत्तरों की पुनरावृत्ति का हो जाना स्वाभाविक है। अश्क जी के जीवन के कुछ प्रसंग बार-बार अभिव्यक्त हुए हैं। उनके उपन्यासों पर भी एक ही प्रकार के प्रश्न पूछे गए हैं। इसके बावजूद जैसी वैविध्यता अश्क के साक्षात्कारों में देखने को मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है।

(ग) निबंध

अश्क जी के समीक्षात्मक लेखों को छोड़ दें तो उनके शेष सभी निबंध वैयक्तिक हैं। इन निबंधों में अश्क के जीवनानुभवों और संस्मरणों का अजीब-सा मिश्रण है। गहरे चिन्तनपरक निबंधों का उनके यहाँ अभाव है। अपने निबंधों में अश्क स्वयं है और वे अपने अनगिनत अनुभवों को अभिव्यक्त करने की प्रेरणा से चालित रहते हैं। संभवतः इसीलिए उनके इन आत्मपरक निबंधों में संस्मरण या रेखाचित्र का संस्पर्श, कहीं-कहीं मिश्रण दिखाई पड़ता है। इन निबंधों की इस सीमा के बावजूद सीधी सरल भाषा, स्पष्टवादिता, रोचकता और व्यंग्य का संस्पर्श इन निबंधों की अपनी विशेषता है।

रेखाएँ और चित्र (1955) में जहाँ संस्मरण और समीक्षाएँ संकलित हैं, समीक्षात्मक लेख संकलित हैं, कुछ निबंध भी हैं जिनमें 'कलम घसीट' और 'है कुछ ऐसी बात कि चुप हूँ' प्रमुख है। इन निबंधों में अश्क जी का व्यंग्य और सीधी-सरल भाषा की संप्रेषणीयता द्रष्टव्य है। *ज़्यादा अपनी कम परायी* पुस्तक में भी अश्क के निबंध संकलित हैं जो पुस्तक के शीर्षक *ज़्यादा अपनी* को रेखांकित करते हैं। इस पुस्तक के प्रकाशकीय में भी इन्हें व्यक्तिगत निबंध कहा गया है। संस्मरणों, पत्रों और डायरी को छोड़ कर शेष सभी निबंध अश्क के जीवनानुभवों को ही अभिव्यक्त करते हैं, व्यंग्य का स्पर्श कहीं स्पष्ट तो कहीं प्रच्छन्न रूप में दिखाई पड़ता है।

छोटी सी पहचान (1971) में अश्क जी के जो ललित लेख संकलित हैं उनमें कथा संस्मरण और सामाजिक आलोचना के तत्व घुल-मिल गए हैं। इन लेखों में अश्क की सरल, सीधी-सादी भाषा शैली पूरी तरह उभरी है। इनमें बड़ी गहराई की बात कहते हुए भी अश्क क्लिष्टता से दूर रहे हैं। इस प्रकार वे उन निबंधकारों से दूर हैं जो क्लिष्टता के कारण ही अपनी पहचान रखते हैं। अपने इन निबंधों में अश्क पूरी तरह मौजूद हैं और एक कथाकार के-से प्रवाह के साथ पाठक को बहा ले जाते हैं। यह अश्क के इस संग्रह ही की नहीं, सभी निबंध-संग्रहों की विशेषता है।

खोने और पाने के बीच (1982) तथा *उस्ताद की जगह खाली है* में भी अश्क जी के निबंध संग्रहीत है। इनमें संस्मरणों, साहित्यिक लेखों के अतिरिक्त जो निबंध है उनमें कुछ तो व्यंग्य प्रधान है (ये रोग विशेषज्ञ, यह बदलता ज़माना) तो कुछ नई पीढ़ी के लिए प्रेरणाप्रद (उस्ताद की जगह खाली है, सो वर्क हार्ड माई डियर, आदि) इन सभी निबंधों में भी अश्क स्वयं विद्यमान हैं। अपने अनुभवों की कसौटी पर उन्हें जो जँचा और ठीक लगा, वही उन्होंने इनमें पिरो दिया है।

इन सभी निबंधों में अश्क का निजीपन स्पष्टतः उभर कर सामने आता है। अश्क का कथाकार भी इन निबंधों में बार-बार प्रकट होता है परिणामतः उनके निबंध रोचक और पठनीय हो जाते हैं। संक्षिप्तता और सुसंगठिता भी इन निबंधों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(घ) आत्मकथा

चेहरे : अनेक के प्रकाशित पाँच खंडों (क्रमशः 1977, 1978, 1980, 1985, 1988) को आत्मकथा कहने के पीछे मूल कारण प्रकाशकीय टिप्पणी में 'एक दृष्टि से अश्क की आत्मकथा' कहना रहा है। इन खंडों में गत 50 वर्षों के साहित्यिक समाज की एक सैरबीनी तस्वीर है, जिसके प्रत्येक खंड में अश्क अपना एक नया चेहरा दिखाता है और इस प्रयास में अश्क के उस चेहरे से संबंधित कितने ही मित्रों के (और शत्रुओं के भी) चेहरे बेनक़ाब हो जाते हैं और पाठक को अश्क के ही नहीं, उन सभी के प्रकट नज़र आने वाले चेहरों के पीछे छिपी रूपाकृतियों की झलक मिल जाती है। चूँकि इन चेहरों

को उघाड़ने का मुख्य केन्द्र बिन्दु स्वयं लेखक है, इसलिए इसे आत्मकथा कहना एक दृष्टि से सही है और चूँकि लेखक का जीवन मूलतः साहित्यिक जीवन है, इसलिए इसे साहित्य की सैरबीनी कहना भी ग़लत नहीं है। इन पाँच खंडों की मूल प्रेरणा *सारिका* में प्रकाशित ***आईने के सामने*** में प्रकाशित 'आत्मकथ्य' है जिसे पुनः लिखकर *अश्क 75* के दूसरे खंड में प्रकाशित किया गया है।

चेहरे-अनेक इस दृष्टि से सभी प्रकाशित आत्मकथाओं से अलग है कि इसमें लेखक 'मैं' के रूप में नहीं वरन् तृतीय पुरुष 'अश्क' के रूप में आया है—यानी लेखक ने स्वयं को एक पात्र के रूप में देखा है और वर्णित किया है। ऐसी वस्तुपरकता आत्मकथा और जीवनी की अनिवार्यता है, मगर प्रायः इनमें इस चीज़ का अभाव पाया जाता है। अश्क जी ने स्वयं को एक पात्र के रूप में प्रस्तुत करके जहाँ आत्मकथा लेखन की एक नई टेकनीक विकसित की है, वहीं एक खंड में अपने एक चेहरे को उभार कर एक नई विधा को भी जन्म दिया है।

अश्क जी की यह साहित्यिक आत्मकथा दस खंडों में पूर्ण होने वाली थी लेकिन इसके केवल पाँच खंड ही प्रकाशित हो पाए हैं। पहले खंड में अश्क ने अपने गंभीर चेहरे के पीछे छिपे विनोदी, नक़्क़ाल, चुहलबाज़, लतीफ़ा-गो और प्रेक्टिकल जोकर को बेनक़ाब किया है। दूसरे खंड में उन्होंने अपने क्रोधी और विद्वेषी—अपने अंदर छिपे चाणक्य और दुर्वासा—को बेनक़ाब किया है। अश्क की यंत्रणा देने और फिर भी सुखी न होने की ट्रेजिडी वस्तुतः संपूर्ण मानवजाति की है। प्रतिशोध की भावना बुरी है, यह बात भी इस खंड में स्पष्टतः उभरी है। तीसरे भाग में अश्क जी ने अपने सितमज़रीफ़ी रूप की परतें उघाड़ी हैं। इसमें अपनी सितमज़रीफ़ी के साथ-साथ उन्होंने अपने इर्द-गिर्द के साहित्यिक परिवेश में व्याप्त सितमज़रीफ़ी और पर-यंत्रणा-प्रियता (sadism) को भी पूरी सच्चाई, साहस और पूरी दयानतदारी से उघेड़ कर रख दिया है। चौथे खंड में अश्क के फ़िल्मी दुनिया में बिताए दिनों के अनुभव हैं। साथ ही उन्होंने हिन्दी साहित्यकार के वहाँ न टिक पाने के कारणों पर भी प्रकाश डाला है। पाँचवे खंड में वे पुनः अपने किरदार की उन कमियों का चित्रण करते हैं जिनके कारण उन्होंने जीवन में अनेक मूर्खताएँ की हैं। यह खंड अश्क जी की सादालौही, सहज-विश्वासी और मित्रों से पाए कष्ट का स्पष्ट चित्रण करता है।

अपनी इस साहित्यिक सैरबीनी के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए अश्क जी ने लिखा है, "*चेहरे-अनेक* ज़िन्दगी की (विशेषकर लेखक-समाज की ज़िन्दगी की) पेचीदगियों के उद्‌घाटनार्थ लिखी गई है, अपने या उनके गुण बताने के लिए नहीं। मेरे उपन्यासों, नाटकों, कहानियों ही की तरह आदमी नाम के जीव को समझाने-समझने का शास्त्र है। भले ही मैंने अपने किरदार के माध्यम से आत्म-चित्रण की शैली में इसे सृजा है।" (*चेहरेःअनेक*-5, पृ. 18) इसे और स्पष्ट करते हुए अन्यत्र उन्होंने कहा, "मैं समझता हूँ कि सच्चा कलाकार, यदि उसके पास दृष्टि है, दूसरों को ही उनकी यथार्थता नहीं

दिखाता और इस तरह ही मानव-विज्ञान में इज़ाफ़ा नहीं करता, वरन् वह अपने अंतस् में गहरे उतर कर उसे भी उघाड़ता है। जो अपने मन में गहरे गोता लगा कर उसके सत-असत को ऊपर ला सकता है, वही दूसरों के अंतस्तल में झाँककर उनकी यथार्थता उसे दिखा सकता है। ऐसी एक अच्छी रचना दूसरी हज़ार अच्छी रचनाओं के मुक़ाबिले में श्रेयस्कर है।

"*चेहरेःअनेक* की संस्मरणमाला मैं इसी उद्देश्य से लिख रहा हूँ और यदि मैं सच्चाई और दयानतदारी से बिना अपने आपको बख़्शे, बिना अपने दुर्गुणों, त्रुटियों और कमज़ोरियों पर कला या कल्पना का ओप चढ़ाए अपने किरदार की हक़ीक़त वयान कर देता हूँ तो यह चित्र कितना भी विरूप, वीभत्स या भयानक क्यों न हो, मैं समझता हूँ कि मैं कलाकार के नाते अपना कर्तव्य निभाता हूँ और मेरे चरित्र के आइने में दूसरे भी अपने चरित्रों का जायज़ा ले सकते हैं और इस तरह मानव के ज्ञान में यदि मैं रंचमात्र भी इज़ाफ़ा करता हूँ तो ग़लत नहीं करता।" (*विवादों के घेरे में*, पृ. 115)

चेहरेःअनेक माला की सबसे बड़ी विशेषता इसकी वस्तुपरकता है। दूसरे साथी साहित्यकारों के चेहरों की सच्चाई बताने के साथ-साथ अश्क ने स्वयं को भी एक पात्र समझ कर अपने चेहरे भी उघाड़े हैं। दूसरी विशेषता इसकी पठनीयता है जो पाठकों को आद्योपांत इसे पढ़ जाने के लिए विवश करती है। तीसरी विशेषता इसकी बेलाग सच्चाई है जिस पर कटु प्रतिक्रिया देने वाले भी अँगुली नहीं उठा पाए।

प्रभाकर श्रोत्रिय ने इसकी कतिपय अन्य विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है, "इसे पढ़कर बहुत कुछ सीखने को मिला और लेखकों-कलाकारों की अंतरंग दुनिया की समझ बढ़ी।...एक वरिष्ठ लेखक के द्वारा उसके ये अनुभव अगली पीढ़ियों को निश्चय ही ऐसा बहुत कुछ कहने देते हैं जो उसके लिए उपादेय है।" (*चेहरेःअनेक*-5, पृ. 13)

इस माला पर हिन्दी जगत में घोर प्रतिक्रिया हुई थी जिसका उल्लेख किए बिना यह बात अधूरी रहेगी। ममता कालिया ने अश्क को हिन्दी का एम.ओ. मथाई कहकर पुकारा है। अर्चना वर्मा को 'यह कृति रचनात्मक स्तर पर बुरी तरह निराश करती' है। लेकिन साथ ही उन्हें यह भी कहना पड़ता है कि 'अश्क की लेखनी अपने तथा दूसरों के लिए समानतः क्रूर है।' कमोबेश यही बात प्रभाकर श्रोत्रिय ने दूसरे शब्दों में कही है। उनकी दृष्टि में आत्मोपहास से अश्क की छवि को ठेस पहुँचती है।

इन कटु प्रतिक्रियाओं के बावजूद यह माला आरिगपूडि, कारिन ज़्वेकर जैसे पाठकों से समर्थन भी बटोरती है। विशेषतः तब जब आरिगपूडि जैसे वरिष्ठ साहित्यकार यह कहते हों, "मैं भयंकर पढ़ाकू माना जाता हूँ। राम जाने कितनी जीवनियाँ और आत्म-चरित मैं चाट गया हूँ लेकिन अभी तक मेरे सामने एक भी ऐसी पुस्तक नहीं आई जो *चेहरे : अनेक* जैसी अद्वितीय हो।" यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्रभाकर

श्रोत्रिय ने इसे बच्चन की आत्मकथा की तुलना में काफ़ी सच्चा पाया है। उन्हें बच्चन की आत्मकथा जैसा आत्ममोह, छद्म, और मिथ्यात्व अश्क में देखने को नहीं मिला।

(च) पत्र-साहित्य

अश्क जी का स्वतंत्र रूप से कोई पत्र-संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। ले-देकर *अश्क-75* में कुछ चुने हुए पत्र और *पुनश्च* में मोहन राकेश और अश्क दम्पति के पत्र अवश्य प्रकाशित हुए हैं। अश्क के गद्य-साहित्य में उनके पत्रों का विशेष महत्त्व है। हिन्दी में शायद ही कोई ऐसा साहित्यकार हो जिसने अपने पत्रों पर भी अपनी मौलिक रचना के समान मेहनत की हो। पंकज सिंह के स्वर के साथ स्वर मिलाकर मैं यह बात कह सकता हूँ कि अश्क के पत्र अपनी प्रासंगिकता और महत्त्व के कारण ऐतिहासिक दस्तावेज़ का दर्जा रखते हैं।

अश्क के गद्य की सभी प्रमुख विशेषताएँ उनके पत्रों में देखने को मिलती हैं। उन तमाम विशेषताओं के साथ-साथ अश्क के व्यक्तित्व की छवि के कई नए शेड्स, गहरी सूक्ष्म दृष्टि, व्यापक अनुभव संसार और अनौपचारिक संवेदनशीलता, कुछ ढके-छिपे सत्य इन पत्रों के ऐसे गुण हैं कि इनका महत्त्व अश्क के गद्य-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है। धीरे-धीरे ये पत्र प्रकाश में आएँगे तो अपना लोहा मनवा ही लेंगे।

(छ) संपादन एवं अनुवाद

अपने सृजनात्मक साहित्य के साथ-साथ अश्क जी ने संपादन एवं अनुवाद के कार्य को भी बख़ूबी निभाया है। संपादक के रूप में उनकी पहली पुस्तक उर्दू *काव्य की एक नई धारा* है जिसका पहला संस्करण 1941 में तथा दूसरा 1949 में निकला। इसमें 80 पृष्ठ की एक लंबी सारगर्भित भूमिका अश्क जी ने दी है और उर्दू की 'नई धारा' के रूप में 'गीत' के विकास का सविस्तार वर्णन किया है। इसमें उर्दू के शायरों के गीत संकलित किए गए हैं। अपनी तरह की यह अकेली पुस्तक है जिसमें उर्दू शायरों के गीत संकलित हैं।

संपादक के रूप में दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक *संकेत-हिन्दी* है। यह एक बृहदाकार ग्रंथ है। इसमें हिन्दी की सभी विधाओं से रचनाएँ संकलित की गई हैं। 600 पृष्ठों में फैला यह ग्रंथ 'अश्क, कमलेश्वर एवं मार्कण्डेय' के परिश्रम का फल है और अपनी तरह का अकेला संग्रह है। हिन्दी के प्रायः सभी बड़े साहित्यकार इसमें अपनी रचना के साथ मौजूद हैं। 1961 में *संकेत : उर्दू* निकाल कर अश्क जी ने इस कड़ी को आगे बढ़ाया। 600 पृष्ठों में फैले इस संग्रह में उर्दू की सभी विधाओं की रचनाओं को देवनागरी में कहीं लिप्यांतर तो कहीं अनुवाद करके संकलित किया गया है। इसी के माध्यम से ही इस्मत चुग़ताई, साहिर के महत्त्वपूर्ण संस्मरणों से हिन्दी वालों का परिचय हुआ। यह कहना भी

अत्युक्ति नहीं होगी कि इस संकलन ने ही उर्दू शायरी को देवनागरी में संकलित करने का मार्ग प्रशस्त किया और इसी की देखा-देखी अनेक संकलन देवनागरी में प्रकाशित हुए हैं। स्वयं अश्क जी ने इस संकलन से, कई छोटे संग्रह निकाले जैसे *उर्दू के बेहतरीन संस्मरण, उर्दू का बेहतरीन हास्य व्यंग्य, उर्दू की बेहतरीन नज़्में, उर्दू की बेहतरीन ग़ज़लें* आदि। हिन्दी में उर्दू सहित्य को प्रचलित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य अश्क जी ने किया। *मेरी दुनिया* नाम से उर्दू की कहानियों का एक संग्रह भी उन्होंने प्रकाशित करवाया।

अश्क जी ने उर्दू के साथ अपने प्रगाढ़ प्रेम को यहीं तक सीमित रखा हो, ऐसा नहीं है। उन्होंने राजेन्द्र सिंह बेदी के उपन्यास और कहानियों का अनुवाद करके उनके चार संग्रह, ख़्वाजा अहमद अब्बास की कहानियाँ और उपन्यास अनुवाद करके पाँच संग्रह उसके प्रकाशित किए। कृष्ण चंदर तथा इस्मत चुग़ताई का एक-एक कहानी संग्रह उन्होंने देवनागरी में प्रकाशित करके उर्दू के रचनाकारों का परिचय हिन्दी वालों से करवाया।

अनुवाद का यह कार्य यहीं तक सीमित नहीं रहा। अश्क जी ने चेख़व, दास्तोएवस्की, तथा स्टेनबैक के एक-एक उपन्यास का अनुवाद हिन्दी में किया। इससे भी महत्त्वपूर्ण काम उन्होंने प्रसिद्ध नाटककार यूजीन ओ' नील के तीन तथा थार्नटन वाइल्डर के एक नाटक का अनुवाद करके किया। अश्क का यह अनुवाद कार्य उर्दू तथा विदेशी साहित्य को प्रकाशित करने तक सीमित नहीं था। वे इन साहित्यकारों से स्वयं भी प्रभावित रहे और उनकी रचनाओं को पढ़ने का परामर्श दूसरों को भी देते रहे। हिन्दी में उर्दू साहित्यकारों की प्रसिद्धि के मूल में ये अनुवाद निश्चय ही नींव का काम करते हैं। मंटो से हिन्दी वालों का परिचय अश्क के माध्यम से हुआ और आज मंटो की कहानियों के कई संग्रह देखने को मिल जाते हैं। यही बात विदेशी साहित्यकारों के बारे में कही जा सकती है। इस दृष्टि से अश्क जी का संपादित एवं अनुवादित साहित्य अपना अलग महत्त्व रखता है। इनके उल्लेख के बिना अश्क के योगदान का मूल्यांकन अधूरा रहेगा।

उपसंहार

अश्क जी के संपूर्ण साहित्य को सामने रखें तो उन पर तीन प्रभाव स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। स्वयं अश्क जी ने इन्हें स्वीकार किया है। पहला प्रभाव उन पर प्रेमचंद का है। प्रेमचंद का प्रभाव उनकी रचनाओं में व्याप्त उनके समाजगत चित्रण और सरल, सीधी जुवान के रूप में देखा जा सकता है। प्रेमचंद ने न केवल अश्क जी को हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित किया बल्कि उनके कहानी-संग्रह *औरत की फ़ितरत* की भूमिका भी लिखी। प्रेमचंद का सामाजिक सरोकार अश्क की रचनाओं में भी दृष्टिगोचर होता है। अश्क को भाषा का संस्कार भी प्रेमचंद से ही मिला। आजीवन वे स्वयं को प्रेमचंद परंपरा से जोड़कर देखते रहे और हिन्दी के प्रायः सभी आलोचकों ने उन्हें इसी परंपरा का लेखक स्वीकार भी किया है।

अश्क जी पर दूसरा अमिट प्रभाव उनके निजी जीवन में हुई त्रासदी का है। इस त्रासदी ने उन्हें जीवन के यथार्थ को नंगी आँख से देखने, सोचने-समझने की क्षमता दी। स्वयं अश्क जी का कहना है, "पहले मन कुछ ऐसे कल्पनालोक में रहता था कि निकट का कूड़ा-करकट, भूख, ग़रीबी, रोग-शोक, गंदगी-ग़लाज़त कुछ भी दिखाई न देता था।" अश्क जी के जीवन की त्रासदी ने उनको इस कल्पनालोक से निकाल कर घोर यथार्थ की भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया। आजीवन अश्क जी ने अपने इस यथार्थ से आँखें मिलाकर सृजनधर्म निभाया।

तीसरा प्रभाव साहित्यिक है। वस्तुतः अश्क जी की यथार्थ दृष्टि को और अधिक पुष्ट करने, स्थायित्व देने का काम इस साहित्यिक प्रभाव ने किया। यह प्रभाव है प्रगतिशील आंदोलन का। स्वयं उन्होंने कहा है, "इसी आंदोलन से मैंने साहित्य-सृजन का ठीक मार्ग और लेखक के रूप में अपने जीवन और कृतित्व की सार्थकता पाई है।" यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि अश्क जी भले ही इस आंदोलन से आजीवन प्रभावित रहे हों लेकिन इस आंदोलन के साथ 'कमिटेड' होकर कभी नहीं रहे। उनकी अंतिम कहानियाँ इसका प्रमाण हैं।

अपनी यथार्थवादी दृष्टि के कारण अश्क जी ने *गिरती दीवारें* माला का सृजन किया और एक ऐसी उपन्यास-माला को जन्म दिया जिसके वे अकेले पथिक रहे। वस्तुतः लीक खींचनी वाली रचनाएँ ऐसी ही होती हैं। अश्क के इस उपन्यास की कटु आलोचना की स्थिति यह है कि हिन्दी में आज भी उन्हें श्रेष्ठ उपन्यासकार स्वीकार नहीं किया जाता। इसका मुख्य कारण अश्क का वस्तु-चयन है। वे एक ऐसा नायक चुनते

हैं जो निम्न-मध्यवर्ग के तमाम गुणों, दुर्गुणों को लिये जन-संकुल समाज में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है, जीवन की साधारण-सी दिखने वाली घटनाओं को भोगता है। विकर्षण, आकर्षण के उतार-चढ़ाव सहता है, शोषण का शिकार होता है और एक-एक करके जिसके सपने टूटते हैं और वह जीवन की निरर्थकता में सार्थकता की तलाश करता, कितने ही अच्छे-बुरे लोगों के संपर्क में आता है। केवल पाँच वर्ष का नायक का जीवनानुभव एक विशालकाय उपन्यास को जन्म देता है जिसका कोई सानी नहीं है क्योंकि संपूर्ण उपन्यास अनगिनत लोगों को उनकी तमाम स्याह और सफ़ेद छवियों के साथ चित्रित करता है। हिन्दी में कोई दूसरा उपन्यास नहीं है जो पात्रों की, कहूँ कि समाज की, ऐसी विशाल तस्वीर लेकर चलता हो। इस संदर्भ में अमृतलाल नागर का नाम ही लिया जा सकता है। लेकिन उनके यहाँ भी ऐतिहासिक उपन्यासों की गिनती अधिक है और एक-दो उपन्यासों में ही पात्रों की वैविध्यता देखने को मिलती है। अश्क पर विशृंखलता का, ढीले-ढालेपन का आरोप है, जो एक स्वाभाविक-सी बात है क्योंकि उन्होंने उसे रचा ही ऐसे है। ये दोष उनके छोटे उपन्यासों में नहीं हैं। वह *बड़ी-बड़ी आँखें* हो, *पत्थर अल पत्थर* हो या *निमिषा*।

अश्क जी की कहानियाँ भी अपनी वैविध्यता में महत्त्वपूर्ण हैं। धनंजय वर्मा का कथन इस संबंध में उल्लेखनीय है, "अश्क ने आदमी के टुच्चेपन, ओछेपन, हसद और हीनता ग्रंथि को जितनी सच्चाई और प्रामाणिकता से पहचाना और उकेरा है, उससे कई बार आश्चर्य होता है।...अश्क में लगातार समय से जुड़े रहने और बदलते समय के स्वरों में स्वर मिलाते चलने की प्रवृत्ति है। इससे उनकी कहानियों की एकरूपता और एकरसता भंग होती है। पूरी कहानी परंपरा के संदर्भ में अश्क का नाम सामाजिक जागरूकता और यथार्थवादी दृष्टि के लिए उल्लेखनीय है और उसे एक प्रयोजनवती भूमिका देने की कोशिश में वह प्रेमचंद और यशपाल की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले लेखक हैं।" 'डाची', 'काकड़ाँ का तेली', 'उबाल', 'बेबसी', 'आकाशचारी', 'अजगर' जैसी कहानियाँ हिन्दी कहानी के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान रखती हैं।

नाटककार के रूप में अश्क की सबसे बड़ी सफलता उनकी रंगमंचीय संपृक्ति है। हिन्दी नाटक, एकांकी को सहजता से रंगमंच पर प्रस्तुत करनेवाले नाटककारों, एकांकीकारों में अश्क अग्रणी हैं। नाटक एकांकी की रंगमंचानुकूल भाषा का प्रयोग भी अश्क की इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण देन है। हिन्दी में रंगमंच से नाटकों को जोड़कर सृजनरत होने वाले लेखक बहुत कम हैं। अश्क ने अपने रंगमंचीय अनुभवों का न केवल नाटक, एकांकी लिखने में लाभ उठाया बल्कि इनका स्पष्ट उल्लेख भी किया। 'अंजो दीदी', 'कैद', 'भँवर' जैसे नाटक तथा 'अधिकार का रक्षक', 'जोंक', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'तूफ़ान से पहले', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'मैमूना', 'आपस का समझौता', 'देवताओं की छाया में' जैसे एकांकी हिन्दी के बेहतरीन एकांकी माने जाते हैं। प्रहसन लिखने की परंपरा का सूत्रपात भी अश्क से होता है। हिन्दी नाटक को अश्क का महत्त्वपूर्ण योगदान

है। नाटक को भाषा और संवाद, रंगमंच और व्यंग्य के धरातल पर एक सार्थक इकाई बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य अश्क जी ने किया। भले ही प्रयोग जैसे प्रयोग अश्क जी ने न किए हों लेकिन नाटक के साथ रंगमंच की अनिवार्यता और सम्प्रेषण के स्तर पर सरल, सीधी-सादी भाषा का प्रयोग करके उन्होंने नाटक के विकास की एक पुख़्ता ज़मीन अवश्य तैयार की है।

ठीक यही बात संस्मरण के क्षेत्र में उनके अविस्मरणीय योगदान के बारे में कही जा सकती हैं। *मंटो : मेरा दुश्मन* जैसा संस्मरण एक मील का पत्थर है। गलदश्रुधारा विगलित हिन्दी संस्मरण को यथार्थ और मानवीय धरातल पर लाकर खड़ा करने का महत्त्वपूर्ण काम अश्क जी ने इस संस्मरण के माध्यम से किया। राजेन्द्र यादव, बेदी, बच्चन पर लिखे गए संस्मरण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी में मंटो के बाद लिखे गए संस्मरणों में जो व्यापकता आई है उसकी बुनियाद में अश्क जी के ये संस्मरण ही हैं। साक्षात्कार विधा को भी एक मानक रूप और स्तर देने का काम अश्क जी ने किया है। साक्षात्कारों के जितने संग्रह अश्क के हैं, शायद ही किसी हिन्दी साहित्यकार के हों। अश्क जी की ख़ूबी यह है कि उन्होंने इस विधा पर भी अपनी मौलिक रचना जैसा ही परिश्रम किया और इसे परिष्कृत किया। अश्क जी की इस ख़ूबी को उनके संपूर्ण साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। दूधनाथ सिंह ने तो अश्क जी के इस इंटरव्यू को दोबारा-सहस्त्रबारा माँजने-सँवारने की आलोचना भी की है। ये काम वे अपनी रचनाओं के साथ तो करते ही हैं—अपने लिखे पत्रों तक को दो-तीन बार लिखते हैं। यही कारण है कि उनके पत्र भी उतने ही पठनीय व महत्त्वपूर्ण हैं जितना उनका साहित्य। इस संदर्भ में अश्क जी का अपना कथन भी महत्त्वपूर्ण है, "मैं बहुत ही पिनकी और तुनुक मिज़ाज़ लेखक हूँ। अंग्रेजी में जिसे कहते हैं परफ़ेक्शनिस्ट। मुझे रचना से जल्दी संतोष नहीं होता।" इसी प्रवृत्ति के कारण उनकी रचनाएँ बार-बार कटती-छँटती जाती हैं। अश्क जी की रचना-प्रक्रिया का यह मूल बिन्दु है।

अश्क जी के समस्त साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि उनकी सामाजिक चेतना है जिसके मूल में प्रेमचंद का प्रभाव है। प्रेमचंद परंपरा के अग्रणी रचनाकारों में अश्क का नाम लिया जाता है। अपने समाज से कट कर उनका साहित्य जीवित नहीं रह सकता। उनके सारे साहित्य में भले ही ढूँढ़ने वालों ने व्यक्तिवाद ढूँढा हो, लेकिन आत्मलीन, मनोवैज्ञानिक गुत्थियों में उनका साहित्य कभी नहीं खोया। उनके पात्र सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग लगते हैं। अश्क के निजत्व के दर्शन उनकी कविताओं में (वह भी कुछ में ही) होते हैं। उनकी कविताओं में उनकी जिजीविषा का स्पष्ट संस्पर्श, देखा जा सकता है। *दीप जलेगा* से लेकर *स्वर्ग एक तलघर है* खंड-काव्य तक उनके समस्त काव्य में ये दुर्धर्ष जिजीविषा देखने को मिलती है।

अश्क-साहित्य में भले ही अधिकांश आलोचकों को गहराई कम मिलती हो, लेकिन एक बात जिसके बारे में इन आलोचकों को भी सहमत होना पड़ता है, वह है

प्रामाणिकता और सत्यता। निम्न-वर्ग का प्रामाणिक चित्रण करने के लिए उन्हें सदैव याद किया जाता रहेगा। यह एक ऐसी बात है जिसके बराबर शायद ही कोई दूसरा साहित्यकार आ सके। इस दृष्टि से अश्क जी का कोई विकल्प नहीं है। इतना विशाल साहित्य-सृजन और भरपूर साहित्यिक जीवन जीने वाला जीवंत साहित्यकार हिन्दी में दूसरा नहीं है। संभवतः इसीलिए सुदर्शन चोपड़ा ने कहा है, "अश्क जैसा जवान और ज़िन्दादिल हमारे यहाँ शायद ही कोई और बूढ़ा हो।"

अश्क जी के संपूर्ण साहित्य का यदि जायज़ा लें तो यह बात स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है कि उन्होंने निरंतर प्रवाहमान जीवन को उनके विविध रंगों के साथ, उसकी सारी कुरूपताओं, धूर्तताओं, छल-कपट, और मानवीयता के साथ, उसकी तीव्र और मंथर गति के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। विभिन्न विधाएँ जीवन के विविध रूपों को अभिव्यक्त करने का ही एक माध्यम मात्र हैं जिन्हें अश्कजी ने अपनाया। उनके यहाँ पात्रों के साथ-साथ जीवनानुभवों का जो ज़ख़ीरा है, वह इस बात को प्रमाणित करता है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि अभी तक अश्क जी के साहित्य का समग्र मूल्यांकन नहीं हुआ है। जिस दयानतदारी के साथ अपने तमाम पूर्वाग्रहों के बावजूद, अश्क जी ने अपने शत्रुओं की अच्छी रचनाओं की मुक्त कंठ से प्रशंसा की, हिन्दी के किसी साथी साहित्यकार, आलोचक ने वैसी ही दयानतदारी का सबूत देते हुए अश्क जी की किसी अच्छी रचना की प्रशंसा नहीं की। कारण जो भी हो—अश्क जी की स्पष्टवादिता और सत्य-कथन को कोई नहीं झुठला सकता। अश्क जी ने जीवन को दार्शनिकता का लबादा नहीं ओढ़ाया, न ही सतही बात को दुरूहता के आवरण में लपेटने का बौद्धिक कौशल ही दिखाया। उन्होंने निम्न-मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ को यथाशक्य उसके तमाम शेड्ज़ के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। पश्चिम में उनके साहित्य का मूल्यांकन करने वाले कुछ विद्वानों ने उनके महत्त्व को रेखांकित करने का प्रयास ज़रूर किया है। इनमें रमेश शौनक, पीटर ग्याफ़्के, वुद्रूस और डेज़ी रॉकवैल का नाम लिया जा सकता है।

अश्क जी के समग्र साहित्य के संदर्भ में, उन्हीं का एक शेर याद आता है, जो निश्चय ही उन्होंने अपने साहित्य को सामने रखकर कहा होगा :

नंगी हक़ीक़तों का मैं अक्कास ही सही,
रम्ज़-ए-हयात से तही मेरा सुख़न नहीं।

परिशिष्ट

अश्क साहित्य

नीचे अश्क जी की प्रकाशित पुस्तकों की सूची दी गई है। इन्हीं पुस्तकों में से कुछ के पेपरबैक अथवा संक्षिप्त संस्करण भी अलग से प्रकाशित हुए हैं जिनका ज़िक्र यहाँ नहीं किया गया है। यह सूची प्रकाशन वर्ष के आधार पर है।

हिन्दी

उपन्यास

1. सितारों के खेल 1940
2. गिरती दीवारें 1946
3. गर्म राख 1952
4. बड़ी बड़ी आँखें 1955
5. पत्थर अल पत्थर 1957
6. शहर में घूमता आईना 1963,
7. एक रात का नरक 1968 (रचनाकाल 1934)
8. एक नन्ही किन्दील 1969
9. बाँधो न नाव इस ठाँव-1,2 1974
10. निमिषा 1980
11. पलटती धारा 1997 (रचनाकाल 1989)
12. इति नियति (अपूर्ण) 2004 (रचनाकाल 1989-96)

कहानी-संग्रह

1. पिंजरा 1944
2. अंकुर 1945
3. निशानियाँ 1947
4. छींटे 1949
5. दो धारा 1949
6. काले साहब 1950
7. जुदाई की शाम का गीत 1951
8. बैंगन का पौधा 1954
9. कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल 1957
10. सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ 1958
11. पलंग 1961
12. आकाशचारी 1966
13. उबाल और अन्य कहानियाँ 1968
14. मेरी प्रिय कहानियाँ 1970 (संकलन)
15. चाचा राम दित्ता 1981
16. दूरदर्शी लोग 1981
17. ये राजे-ये ऋषि 1981

नाटक

1. जय पराजय 1937
2. स्वर्ग की झलक 1939
3. छठा बेटा 1940
4. आदि मार्ग 1950
5. क़ैद और उड़ान 1950

6. पैंतरे 1952
7. अलग अलग रास्ते 1954
8. अंजो दीदी 1955
9. भँवर 1961
10. बड़े खिलाड़ी 1967
11. लौटता हुआ दिन 1972
12. स्नो व्यू अप्रकाशित
13. एक और कालिदास अप्रकाशित
14. आँधियाँ बोने वाले अप्रकाशित
15. विद्रोही अप्रकाशित

एकांकी

1. देवताओं की छाया में 1940
2. तूफ़ान से पहले 1947
3. चरवाहे 1948
4. पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ 1951
5. पक्का गाना 1953
6. अंधी गली 1956
7. साहब को जुकाम है 1959
8. 25 श्रेष्ठ एकांकी 1969
9. मुखड़ा बदल गया 1980

आलोचना

1. उर्दू काव्य की एक नई धारा 1940
2. हिन्दी कहानियाँ और फ़ैशन 1964
3. हिन्दी कहानी : एक अंतरंग परिचय 1967
4. अन्वेषण की सहयात्रा 1973
5. आधी ज़मीन 1996

कविता/खंड-काव्य

1. प्रात प्रदीप 1937
2. ऊर्म्मियाँ 1941
3. बरगद की बेटी 1949
4. दीप जलेगा 1950
5. चाँदनी रात और अजगर 1952
6. सड़कों पे ढले साए 1960
7. खोया हुआ प्रभामंडल 1965
8. अदृश्य नदी 1977
9. आधुनिक कवि-18 (संकलन) 1978
10. पीली चोंच वाली चिड़िया के नाम 1990
11. स्वर्ग एक तलघर है 1991
12. एक दिन आकाश ने कहा 1995

समालाप

1. कहानी के इर्द गिर्द 1971
2. गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि 1979
3. आमने सामने 1981
4. विवादों के घेरे में 1986
5. साक्षात्कार और विचार (3 खंड) 1992

निबंध-विविध गद्य

1. रेखाएँ और चित्र 1955
2. ज़्यादा अपनी : कम परायी 1959
3. कुछ दूसरों के लिए 1968
4. छोटी-सी पहचान 1971
5. खोने और पाने के बीच 1982
6. उस्ताद की जगह खाली है 1985

संस्मरण/आत्मकथा

1. मंटो : मेरा दुश्मन 1956

2. परतों के आर पार 1965
3. शिकायतें और शिकायतें 1966
4. आसमाँ और भी हैं 1973
5. चेहरे : अनेक-1 1977
6. चेहरे : अनेक-2 1978
7. फ़िल्मी जीवन की झलकियाँ (2 खंड) 1979
8. चेहरे : अनेक-3 1980
9. चेहरे : अनेक-4 1985
10. वेदी : मेरा हमदम मेरा दोस्त 1986
11. चेहरे : अनेक-5 1988

संपादित

1. संकेत : हिन्दी 1956
2. संकेत : उर्दू 1962

अनुवाद : उपन्यास

1. ये आदमी ये चूहे : स्टाइनबेक 1955
2. हिज़ एक्सलेंसी : दास्त्योवस्की 1956
3. रंगसाज़ : चेख़व 1958

नाटक

1. लंबे दिन की यात्रा रात में : ओ'नील 1963
2. क्षितिज के पार : ओ'नील 1964
3. अभिशप्त : ओ'नील 1968
4. हितचिन्तक : थार्नटन वाल्डिर 1968

पंजाबी

1. वावरोले 1940
2. ढहदियाँ कन्धाँ 1977
3. अश्क दियाँ प्रतिनिधि कहानियाँ 1981

उर्दू

उपन्यास

1. सितारों के खेल 1963
2. पत्थर अल पत्थर 1981
3. गिरती दीवारें 1983
4. बड़ी बड़ी आँखें 1986
5. एक नन्ही किन्दील 1989
6. शहर में घूमता आईना 1997

कहानी-संग्रह

1. नौरतन 1930
2. औरत की फ़ितरत 1933
3. डाची 1939
4. कोंपल 1940
5. नासूर 1942
6. कफ़स 1943
7. चट्टान 1944
8 काले साहब 1954
9. अश्क के मुंतखिब अफ़साने 1986
10. टेरेस पर बैठी शाम 1987
11. टेबल लैंड और दूसरे अफ़साने 1992

नाटक

1. असली रास्ते 1946
2. क़ैदे हयात 1947
3. पैंतरे 1979
4. गिरदाब 1981
5. छठा बेटा 1981
6. अंजो बाजी 1984
7. जन्नत की झलक 1984

एकांकी

1. पापी 1941
2. चरवाहे 1942
3. तौलिए 1979
4. पड़ोसिन का कोट 1985

संस्मरण

1. मंटो : मेरा दुश्मन 1979

आलोचना

1. मेरी अफ़साना नवीसी के चालीस बरस 1988

नोट : इस प्रकाशित साहित्य के अतिरिक्त अश्क जी बहुत कुछ अप्रकाशित छोड़ गए हैं, जिसमें कहानियाँ, नाटक, कविताएँ, लेख और संस्मरण शामिल हैं। इनके प्रकाशन के बाद ही अश्क जी के विपुल रिक्थ की, उनके कृतित्व की, मुकम्मल झाँकी सामने आ सकेगी।



उपेन्द्रनाथ अश्क (1910-1996) का जीवन काल लगभग पूरी बीसवीं सदी का काल है, जो एक अत्यंत लंबा वैविध्यपूर्ण उथल-पुथल से भरा युग है। अश्कजी का जन्म जालंधर में हुआ और अपने जीवन के प्रारंभिक 21 वर्ष उन्होंने वहीं व्यतीत किए। 1931 में वे लाहौर चले आए और लगभग 8 वर्षों तक वहाँ रहे। 1939 में उन्होंने लाहौर छोड़ा और दिल्ली में रेडियो की नौकरी कर ली। 1944 में दिल्ली की नौकरी छोड़ मुंबई के फ़िल्म जगत में चले गए। 1948 में वे स्थायी रूप से इलाहाबाद आ बसे और जीवन के अंत तक वहीं रहे।

अपनी यथार्थवादी दृष्टि के कारण अश्कजी ने *गिरती दीवारें* उपन्यास माला का सृजन किया। केवल पाँच वर्ष का नायक का जीवनानुभव इस विशालकाय उपन्यास को जन्म देता है, जिसका कोई सानी नहीं है; क्योंकि संपूर्ण उपन्यास अनगिनत लोगों को उनकी तमाम स्याह और सफ़ेद छवियों के साथ चित्रित करता है। इस उपन्यास को पहला खुले अंतवाला उपन्यास कहा गया है। वस्तुतः इसके सभी खंड खुले अंतवाले हैं, क्योंकि वे एक वृहद् उपन्यास के अविभाज्य खंड हैं। यह उपन्यास *गिरती दीवारें, शहर में घूमता आईना, एक नन्हीं किन्दील, बाँधो न नाव इस ठाँव* (दो भाग), *पलटती धारा* तथा *इति नियति* (अपूर्ण)—इन छह भागों में है। अश्क जी के अन्य उपन्यासों में *गर्म राख, बड़ी-बड़ी आँखें, पत्थर अल पत्थर* और *निमिषा* हैं, जिनकी पर्याप्त आलोचना प्रत्यालोचना हुई है। अश्क जी की कहानियाँ भी अपने वैविध्य में महत्त्वपूर्ण हैं और वह प्रेमचंद और यशपाल की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले लेखक हैं। उनके 17 कहानी संग्रह प्रकाशित हैं। 'डाची', 'काँकड़ा का तेली', 'उबाल', 'बेबसी', 'आकाशचारी', 'अजगर' जैसी कहानियाँ हिन्दी कहानी के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। नाटककार के रूप में अश्क जी की सबसे बड़ी सफलता उनकी रंगमंचीय संपृक्ति है। रंगमंच के अनुकूल और संप्रेषण के स्तर पर सरल, सीधी-सादी भाषा का प्रयोग कर उन्होंने नाटक के विकास की पुख़्ता ज़मीन तैयार की। संस्मरण के क्षेत्र में भी उनका योगदान अविस्मरणीय है। *मंटो : मेरा दुश्मन* जैसा संस्मरण एक मील का पत्थर है। अश्क जी की कविताओं में उनके निजत्व का दर्शन होता है और वहाँ उनकी जिजीविषा का स्पष्ट संस्पर्श देखा जा सकता है। उनके संपूर्ण साहित्य के संबंध में यह बात स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि उन्होंने निरंतर प्रवहमान जीवन को उसके विविध रंगों के साथ, उसकी सारी कुरूपताओं, धूर्तताओं, छल-कपट और मानवीयता के साथ, उसकी तीव्र और मंथर गति के साथ अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

विनिबंध के लेखक **डॉ. राजेन्द्र टोकी** (जन्म 1954, लुधियाना) सुपरिचित आलोचक, कवि और कहानीकार हैं। उनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं : *रमेश बक्षी के उपन्यासों में व्यक्तिबोध* (आलोचना), *ज़िन्दगी के सहरा में, सिर्फ़ अल्फ़ाज़ बचे हैं* (ग़ज़ल संग्रह), *सबके साथ चलते हुए भी* (कविता-संग्रह) और *कथा एक बौड़म की* (कहानी-संग्रह)। संप्रति आप ए.एस. कालेज, खन्ना (पंजाब) में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

ISBN 81-260-2041-5

मूल्य : पच्चीस रुपये